हिन्दी त्रैमासिक
विवेक-ज्योति
वर्ष ३८ अंक १
तन्नो हंसः प्रचोदयात्
रामकृष्ण मिशन विवेकानन्द आश्रम, रायपुर

विवेक-ज्योति

श्रीरामकृष्ण-विवेकानन्द भावधारा से अनुप्राणित

हिन्दी त्रैमासिक

जनवरी-फरवरी-मार्च

• १९९८ •

प्रबन्ध सम्पादक तथा व्यवस्थापक

स्वामी सत्यरूपानन्द

सम्पादक

स्वामी विदेहात्मानन्द

वार्षिक २०/- | वर्ष ३६ अंक १ | एक प्रति ६/-

आजीवन ग्राहकता शुल्क (२५ वर्षों के लिए) ३००/-

रामकृष्ण मिशन विवेकानन्द आश्रम

रायपुर - ४९२ ००१ (म.प्र.)

दूरभाष : २२५२६९, ५४४९५९, २२४११९

विवेक-ज्योति के आजीवन सदस्य

(११३ वीं तालिका)

४०९०. श्री नारायण दास, चिरमिरी, सरगूजा (म. प्र.)
४०९१. श्री बृजभूषण भट्ट, इन्दौर (म. प्र.)
४०९२. श्री धोबार कैवर्त, पत्थलगाँव, रायगढ़ (म. प्र.)
४०९३. श्री के. पी. लखानी, जूनागढ़ (गुजरात)
४०९४. सुश्री कौशल वर्मा, राजातालाब, रायपुर (म. प्र.)
४०९५. श्री ज्ञानचन्द वर्मा, महू, इन्दौर (म. प्र.)
४०९६. डॉ. वी. पी. बंशल, इन्दौर (म. प्र.)
४०९७. श्रीमती शेफाली वर्मा, नई दिल्ली
४०९८. श्रीरामकृष्ण-विवेकानन्द सेवा समिति, निपानी (कर्नाटक)
४०९९. श्री प्रदीप ठाकुर, मुकुटनगर, रायपुर (म. प्र.)
४१००. डॉ. एन. एन. विरमनी, इन्दौर (म. प्र.)
४१०१. श्री राजेन्द्र कुमार चौहान, जोधपुर (राजस्थान)
४१०२. सुश्री वर्षा श्रीधर नार्वेकर, मुम्बई (महाराष्ट्र)
४१०३. श्री आर. पी. सी. चोरड़िया, चेन्नै (तमिलनाडु)
४१०४. स्वामी जगदात्मानन्द जी महाराज, सिंगापुर
४१०५. श्रीमती मंजुला हर्षदराय ओझा, रायपुर (म. प्र.)
४१०६. श्री अच्युतानन्द मिश्रा, पटना (बिहार)
४१०७. श्रीमती सन्तोष दत्त, नागपुर (महाराष्ट्र)
४१०८. श्री परितोष बेलगो, सिमला (हि. प्र.)
४१०९. श्री प्रदीप कुमार अग्रवाल, बिलासपुर (म. प्र.)
४११०. श्री सुधीर सेलट, मुम्बई (महाराष्ट्र)
४१११. श्री भरतराम वर्मा, धनसुली, रायपुर (म. प्र.)
४११२. श्री श्रीकान्त गुप्त, कुण्ड, रोहतास (बिहार)
४११३. श्री विष्णु अग्रवाल, बिलासपुर (म. प्र.)
४११४. श्री प्रमोद सिंह तोमर, काशीपुर (उ. प्र.)
४११५. श्री योगेश कुमार जिन्दल, काशीपुर (उ. प्र.)
४११६. श्री अनिल भांडगे, रायपुर (म. प्र.)
४११७. श्री योगेश भट्ट, फरीदाबाद (हरियाणा)
४११८. श्री विश्वजीत बैनर्जी, जयन्त, सीधी (म. प्र.)
४११९. श्री के. आर. विश्वनाथ अगरबत्ती वर्क्स, बंगलोर (कर्नाटक)
४१२०. श्री किरीट भाई बघेला, राजकोट (गुजरात)

अपील

श्रीरामकृष्ण मठ
मयलापुर,
चेन्नै - ६०० ००४

श्रीरामकृष्ण का सार्वभौमिक मन्दिर

प्रिय मित्रो,

स्वामी विवेकानन्द की प्रेरणा से १८९७ ई. में इस मठ की स्थापना हुई। यह अपने बहु-आयामी सेवाओं के सौ वर्ष पूरे कर चुका है। भक्तों तथा अनुरागियों की काफी काल से चली आ रही हार्दिक इच्छा की पूर्ति के लिए मठ-परिसर में श्रीरामकृष्ण के एक भव्य मन्दिर का निर्माण का कार्य हाथ में लिया गया है। रामकृष्ण संघ के वर्तमान अध्यक्ष श्रीमत् स्वामी भूतेशानन्दजी महाराज ने १ दिसम्बर, १९९४ ई. को इस मन्दिर का शिलान्यास हुआ और इसका निर्माण-कार्य प्रगति पर है। श्रीरामकृष्ण समन्वय तथा सार्वभौमिकता की प्रतिमूर्ति थे और उनका सन्देश वर्तमान युग की आशाओं तथा आकांक्षाओं को पूरा करता है, अतः उनका मन्दिर भी सार्वभौमिक भावों से युक्त होगा।

श्रीरामकृष्ण के अन्य मन्दिरों तथा परम्परागत दक्षिण भारतीय स्थापत्य के सम्मिश्रण से बननेवाले इस मन्दिर में १००० भक्त एक साथ बैठकर प्रार्थना तथा ध्यान कर सकेंगे। ग्रेनाइट पत्थरों से बन रहे इस मन्दिर की अनुमानित लागत चार करोड़ रुपये आँकी गयी थी, परन्तु मन्दिर के प्रस्तावित आकार में वृद्धि और सामग्री तथा मजदूरी के दरों में वृद्धि के फलस्वरूप अब इसकी अनुमानित लागत बढ़कर साढ़े छह करोड़ हो गयी है।

इस तरह के एक विशाल तथा पुनीत कार्य को समाज के सभी स्तर के लोगों की शुभेच्छा तथा सहयोग से ही पूरा किया जा सकता है। उदारतापूर्वक दान के द्वारा इस परियोजना में सहभागी होने के लिए हम आप सभी को आमंत्रित करते हैं। आपका दान कृतज्ञता के साथ स्वीकृत तथा सूचित किया जायगा। रेखांकित चेक या ड्राफ्ट RAMAKRISHNA MATH, CHENNAI' के नाम से बनवाकर भेजें।

स्वामी गौतमानन्द
अध्यक्ष

For Details Contact Sri Ramakrishna Math, Mylapore, Chennai-4
Phone 494 1213, 494 1959, Fax 493 4589

अनुक्रमणिका

मुद्रक : संयोग आफसेट प्रा. लि., बजरंगनगर, रायपुर (फोन : ५४६६०३)

॥ आत्मनो मोक्षार्थं जगद्धिताय च ॥

विवेक-ज्योति

श्रीरामकृष्ण-विवेकानन्द भावधारा से अनुप्राणित

हिन्दी त्रैमासिक

जनवरी–फरवरी–मार्च

◆ १९९८ ◆

वर्ष ३६ अंक १

वृद्धावस्था का खेद

वयं येभ्यो जाताश्चिरपरिगता एव खलु ते
समं यैः संवृद्धाः स्मृतिविषयतां तेऽपि गमिता ।
इदानीमेते स्मः प्रतिदिवसमासन्नपतना
गतास्तुल्यावस्थां सिकतिलनदीतीरतरुभिः ।

अन्वय – वयं (हम) येभ्यः (जिन माता-पिता से) जाताः (पैदा हुए) ते खलु एव (वे निश्चय ही) चिर-परिगता (काफी पूर्व जा चुके हैं), यैः समं (जिन भाइयों या मित्रों के साथ) संवृद्धाः (हम बड़े हुए) ते अपि (वे भी) स्मृति-विषयतां (कालग्रस्त होकर स्मरण के विषय मात्र) गमिताः (रह गये हैं), इदानीं (अब इस वार्धक्य में) प्रतिदिवसं (प्रतिदिन) आसन्न-पतना (मृत्यु के निकट पहुँचकर) एते (ये हम लोग) सिकतिल (बालुकामय) -नदी-तीर-तरुभिः (नदी-तट के वृक्षों) तुल्य-अवस्थां (के समान अवस्था) गताः स्मः (को प्राप्त हो गये हैं)।

अर्थ – जिन माता-पिता से हमारा जन्म हुआ, वे कब के काल के गाल में समा चुके हैं। जिन सगे-सम्बन्धियों, मित्रों तथा परिचितों के साथ हम बड़े हुए, वे भी परलोकगत होकर बस स्मृतियों के झरोखे में ही रह गये हैं। हम भी तो अब वृद्ध होकर नदी तट पर खड़े वृक्ष के समान प्रतिदिन गिरने की राह देख रहे हैं।

– भर्तृहरिकृत वैराग्यशतकम्, ४८

विवेक-गीति

— १ —

यह धर्मभूमि भारत, यह कर्मभूमि भारत।
अनुपम है इस धरा पर यह पुण्यभूमि भारत॥
गाते है देवता भी इसकी अपार महिमा,
इतिहास भी सुनाता इसकी अपूर्व गरिमा,
इसने प्रसव किये है ऋषि-मुनि मनीषि शत शत॥
प्रकटन यहीं हुआ था हर ज्ञान हर विधा का,
फैली यहीं से जग में विज्ञान की शलाका,
युग युग से जो रहा है विद्या-विचार में रत॥
कुछ काल से हुआ है यह देश धूलि-धुसरित,
अपमान बहुत झेले पीड़ा सही है अगणित,
पर दिन बदल रहें हैं स्वर्णिम भविष्य आगत॥
वेदों की दिव्य वाणी फिर गूँजती है जग में,
सद्धर्म की पताका लहरा रही है नभ में,
फिर विश्व हो रहा है इसके पदों में अवनत॥

— २ —

अग्निमंत्र कर प्रदान, जननी हमें आज।
निकल पड़े धारणकर, वीरता का साज॥
सो रहे थे हो अचेत, जनम गया सेतमेत,
अब खुली जो आँख, हमें आ रही है लाज॥
क्षुद्र विषय अब न मोहे, तम प्रमाद अब न सोहे,
कामना है प्राण जाय, माँ तुम्हारे काज॥
वीर वाहिनी हमारी, चल पड़ी सुपथ पे न्यारी,
सुन हमारी गर्जना को हिल उठे समाज॥
मातु हमें मानुष कर, जीवन निज बल से भर,
देख सुपुत्रों का शौर्य, हो तुझे भी नाज॥
दुःख-दैन्य स्वार्थ-लोभ, भेदभाव जनित क्षोभ,
टूट पड़ें हम इन पर, जैसे गिरे गाज॥

— विदेह

(स्वामी शिवानन्द को लिखित)

जयपुर,
२७ दिसम्बर, १८९७

प्रिय शिवानन्द,

बम्बई के गिरगाँव निवासी श्री सेतलूर ने, जिनके साथ मद्रास में रहते समय तुम्हारा घनिष्ठ परिचय हुआ था, अफ्रीका में रहनेवाले भारतवासियों के आध्यात्मिक अभाव को दूर करने के निमित्त किसी को वहाँ भेजने के लिए लिखा है। यह निश्चित ही है कि वे ही उस मनोनीत व्यक्ति को अफ्रीका भेजेंगे और उसका समस्त व्ययभार स्वयं ग्रहण करेंगे।

इस समय यह कार्य नितान्त सरस अथवा झंझटरहित प्रतीत नहीं होता। किन्तु सत्पुरुषों को इस कार्य के लिए अग्रसर होना उचित है। तुम जानते हो कि वहाँ पर गोरी जातियाँ भारतीय प्रवासियों को बिल्कुल भी पसन्द नहीं करतीं। वहाँ का कार्य है – ऐसा करना जिससे भारतीयों का भला हो; परन्तु यह कार्य इतना सावधान तथा शान्तचित्त होकर करना होगा कि जिससे किसी नवीन झगड़े की सृष्टि न होने पावे। कार्य प्रारम्भ होने के साथ-ही-साथ फलप्राप्ति की कोई सम्भावना नहीं है; किन्तु इसमें सन्देह नहीं कि आगे चलकर आज तक भारत के कल्याण के लिए जितने भी कार्य किये गये हैं, उन समस्त कार्यों की अपेक्षा इसमें अधिक फल प्राप्त होगा।

मेरी इच्छा है कि तुम एक बार इस कार्य में अपने भाग्य की परीक्षा करो। यदि इसमें तुम्हारी सम्मति हो, तो इस पत्र का उल्लेख करते हुए तुम सेतलूर को अपना अभिप्राय सूचित करना तथा अन्यान्य समाचार पूछना। **शिवा वः सन्तु पन्थानः**। मेरा शरीर पूर्ण स्वस्थ नहीं है; किन्तु शीघ्र ही मैं कलकत्ता रवाना हो रहा हूँ और स्वास्थ्य भी ठीक हो जायगा। इति

भगवत्पदाश्रित,

विवेकानन्द

– २ –

(स्वामी रामकृष्णानन्द को लिखित)

मठ, बेलूड़, हावड़ा

२५ फरवरी, १८९८

प्रिय शशी,

मद्रास के महोत्सव (श्रीरामकृष्ण-जन्मोत्सव) के सफलतापूर्वक सम्पन्न होने का संवाद पाकर हम सभी तुम्हारा अभिनन्दन करते हैं। मैं समझता हूँ कि लोगों की उपस्थिति पर्याप्त मात्रा में हुई होगी और उनके लिए आध्यात्मिक खुराक की भी यथेष्ट व्यवस्था रही होगी।

तुम अपने अत्यन्त प्रिय आसन-मुद्रादि तथा 'क्लीं फट्' के बदले में मद्रासियों को आत्मविद्या की शिक्षा प्रदान करने के लिए विशेष रूप से कटिबद्ध हुए हो – यह जानकर हम सभी को अत्यन्त खुशी हुई। श्रीरामकृष्ण देव के सम्बन्ध में तुम्हारा भाषण वास्तव में अत्यन्त सुन्दर हुआ था। जिस समय मैं खण्डवा में था, उस समय 'मद्रास मेल' नामक समाचार-पत्र में उसका एक विवरण मुझे यद्यपि सामान्य रूप से देखने को मिला था; किन्तु मठ को तो उसका कुछ भी अंश प्राप्त नहीं हुआ। तुम उसकी एक प्रतिलिपि हमें क्यों नहीं भेज देते ?

मुझें यह मालूम हुआ कि मेरे पत्रादि तुम्हें प्राप्त न होने के कारण तुम दुखी हो, क्या यह सत्य है ? सच बात तो यह है कि तुमने मुझे जितने पत्र भेजे हैं, उनसे कहीं अधिक पत्र मैंने अमेरिका तथा यूरोप से तुमको लिखे हैं। मद्रास से प्रति सप्ताह जहाँ तक हो सके, मुझे समाचार भेजना तुम्हारे लिए उचित है। इसका एक सरल तरीका यह है कि प्रतिदिन एक कागज़ पर कुछ समाचार तथा कुछ एक पंक्तियाँ लिखकर रखने की व्यवस्था की जाय।

कुछ दिनों से मेरा स्वास्थ्य ठीक नहीं था, अब कुछ अच्छा है। इस समय कलकत्ते में अन्यान्य वर्षों की अपेक्षा कुछ अधिक जाड़ा है एवं इसके फलस्वरूप अमेरिका से मेरे जो मित्र आये हैं, वे अत्यन्त कुशलपूर्वक हैं। जो ज़मीन खरीदी गयी है, आज उसका अधिकार लिया जायगा। यद्यपि अधिकार लेते ही वहाँ पर महोत्सव करना सम्भव नहीं है, फिर भी रविवार के दिन वहाँ पर कुछ-न-कुछ करने की व्यवस्था मैं अवश्य ही रखूँगा। कम-से-कम श्रीरामकृष्ण देव का भस्मावशेष

उस दिन के लिए अपनी निजी ज़मीन में ले जाकर वहीं पर उसकी पूजा की व्यवस्था अवश्य की जायगी।

गंगाधर यहीं है और वह तुम्हें सूचित करना चाहता है कि यद्यपि उसने 'ब्रह्मवादिन्' पत्रिका के कुछ ग्राहक बनाये हैं, किन्तु पत्रिका निर्धारित समय पर न आने के कारण उसे यह डर है कि उनसे भी उसे शीघ्र ही हाथ न धोना पड़े। तुमने एक युवक को जो प्रशंसा-पत्र दिया है, वह मुझे प्राप्त हुआ है और उस पत्र के साथ वही कहानी दुहराई गयी है – 'महोदय, मेरे जीवन-निर्वाह का कोई भी प्रबन्ध नहीं है।' विशेषकर इस कहानी का मद्रासी संस्करण में इतना अंशविशेष जोड़ दिया गया है कि 'मेरी सन्तानों की संख्या भी अधिक है,' जिसको विकसित करने में किसी सिफ़ारिश की आवश्यकता नहीं थी। यदि मुझसे उसकी कुछ सहायता होती, तो मुझे खुशी होती; परन्तु सच बात यह है कि इस समय मेरा हाथ खाली है – मेरा जो कुछ भी था, सब कुछ मैंने राखाल को सौंप दिया है। वे लोग कहते हैं कि मैं अधिक खर्च करने का आदी हूँ। अतः मेरे पास पैसा रखने से वे लोग डरते हैं। अस्तु, मैंने उस पत्र को राखाल के पास भेज दिया है – यदि वह किसी प्रकार तुम्हारे युवक मित्र को सहायता पहुँचा सके, जिससे कि वह कुछ और अधिक बच्चों को पैदा कर सके। उसने लिखा है कि ईसाई धर्म ग्रहण करने पर ईसाई लोग उसकी सहायता करने को प्रस्तुत हैं; किन्तु वह ईसाई नहीं बनेगा। सम्भवतः उसे डर है कि कहीं उसके ईसाई बन जाने से हिन्दू भारत अपना एक उज्ज्वल रत्न खो बैठेगा और हिन्दू समाज भी उसके चिर दारिद्र्य को प्रचारित करने की शक्ति के लाभ से वंचित हो जायगा!

नदी के किनारे नवीन मठ में रहने के फलस्वरूप और जिस मात्रा में यहाँ पर विशुद्ध तथा ठण्डी वायु का सेवन करना पड़ा है, उसमें अनभ्यस्त रहने के कारण सभी बच्चे विशेष हैरान हो उठे हैं। सारदा दिनाजपुर से 'मलेरिया' लेकर लौटा है। दूसरे दिन मैंने उसे अफीम की एक खुराक दी, जिससे कोई विशेष लाभ नहीं हुआ; केवल उसके मस्तिष्क पर कुछ प्रभाव पड़ा, जो कुछ घण्टों के लिए अपनी स्वाभाविक अवस्था – बेवकूफी की तरफ गतिशील हुआ। हरि को भी 'मलेरिया' हो गया था। मैं समझता हूँ कि इससे उनकी चरबी कुछ घट जायगी। कार्य प्रारम्भ कर दिया है; यदि हरि, सारदा तथा स्वयं मुझको तुम waltz (वॉल्स) नृत्य करते देखते, तो तुम्हारा हृदय आनन्द से भर जाता। मैं स्वयं ही अत्यन्त आश्चर्यान्वित हो उठता हूँ कि कैसे हम अपने को सँभाल लेते हैं।

शरत् आ पहुँचा है और वह अपनी आदत के अनुसार कठोर परिश्रम कर रहा है। अब हम लोगों को कुछ अच्छे फर्नीचर प्राप्त हुए हैं। तुम स्वयं ही सोच सकते हो कि उस पुराने मठ की चटाई के स्थान पर सुन्दर टेबल, कुर्सी और तीन खाटों की प्राप्ति कितनी बड़ी उन्नति है ! हम लोगों ने पूजा के कार्य को बहुत कुछ संक्षिप्त बना दिया है। तुम्हारे 'क्लीं-फट्', झाँझ और घण्टे की जो काट-छाँट की गयी है, उसे कहीं तुम देख लो तो तुम्हें मूर्छा आने लगेगी। जन्मतिथि-पूजा केवल दिन में की गयी थी और रात में सभी सुख की नींद सोये थे। तुलसी और खोका कैसे हैं ? तुलसी को अपना काम सौंपकर तुम एक बार कलकत्ते आ जाओ न। किन्तु उसमें व्यय अधिक होगा और लौटकर भी तो तुम्हें पुनः वहीं जाना पड़ेगा; क्योंकि मद्रास के कार्य को भी तो पूर्ण रूप देना होगा। कुछ एक माह के बाद ही श्रीमती बुल के साथ पुनः अमेरिका रवाना हो रहा हूँ।

गुडविन से मेरा प्यार कहना और उसे बताना कि जापान जाते समय हम उससे अवश्य मिलेंगे। शिवानन्द यहीं पर है और उसकी हिमालय के लिए चिर-प्रस्थान की प्रबल इच्छा को बहुत कुछ प्रशमित करने में मैं सफल हुआ हूँ। क्या तुलसी का भी यही विचार है ? मैं समझता हूँ कि वहाँ बड़े बड़े चूहों के बिलों में उसकी साध मिट सकती है – तुम्हारी क्या राय है ?

यहाँ पर मठ तो स्थापित हुआ। मैं भी अधिक आर्थिक सहायता प्राप्ति के लिए विदेश जा रहा हूँ। ...शक्ति के साथ कार्य करो। भारत, बाहर और भीतर दोनों तरफ से सड़ा मुर्दा हो गया है। श्री गुरुदेव के आशीर्वाद से भारत जीवित हो उठेगा। मेरा हार्दिक प्यार जानना। इति।

भगवत्पदाश्रित तुम्हारा,

विवेकानन्द
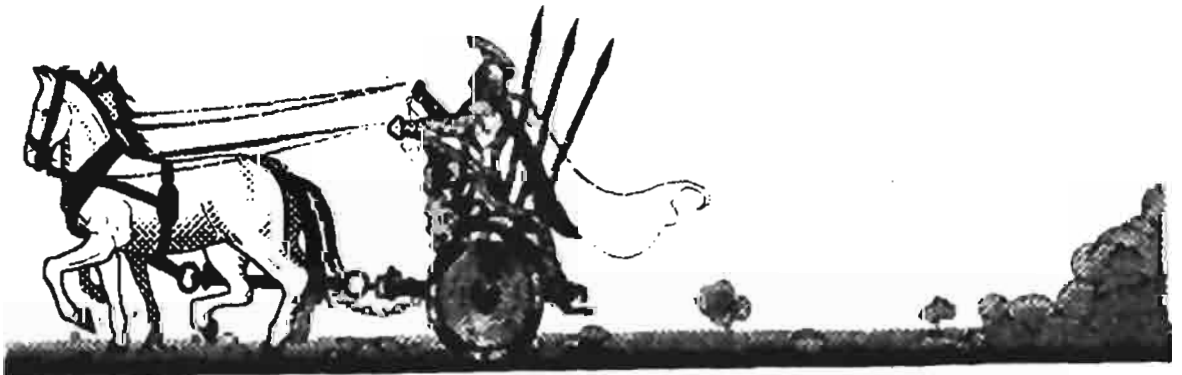
राष्ट्रोन्नति के सोपान

स्वामी आत्मानन्द

(ब्रह्मलीन स्वामी आत्मानन्द जी ने आकाशवाणी के चिन्तन कार्यक्रम के लिए विभिन्न विषयों पर विचारोत्तेजक तथा उद्‌बोधक लेख लिखे थे, जो आकाशवाणी के विभिन्न केन्द्रों द्वारा समय समय पर प्रसारित किये जाते रहे हैं तथा काफी लोकप्रिय हुए हैं। प्रस्तुत लेख आकाशवाणी रायपुर से साभार गृहीत हुआ है। – सं.)।

राष्ट्र की उन्नति के लिए आलस्य और अन्धविश्वास – इन दो का सर्वथा त्याग करना होगा तथा हृदय को प्रेम तथा सहानुभूति से भरना होगा। आलस्य अकर्मण्यता को जन्म देता है और किसी भी सर्जनात्मक प्रेरणा को कुन्द कर देता है। आलस्य को इच्छाशक्ति के द्वारा जीता जा सकता है। इच्छाशक्ति संसार में सबसे अधिक बलवती है। उसके सामने दुनिया की कोई चीज नहीं ठहर सकती। विशुद्ध और दृढ़ इच्छाशक्ति सर्वशक्तिमान है।

यह इच्छाशक्ति अपने ऊपर विश्वास करने से उत्पन्न होती है। स्वामी विवेकानन्द कहते हैं कि अपने आप में विश्वास करने का आदर्श हमारा सबसे बड़ा सहायक है। सभी क्षेत्रों में यदि अपने आप में विश्वास करना हमें सिखाया जाता और उसका अभ्यास कराया जाता, तो हमारी बुराइयों तथा दुःखों का बहुत बड़ा भाग आज तक मिट गया होता। वे आत्मविश्वास को धार्मिक प्रेरणा से भी ऊँचा दर्जा देते हुए कहते हैं – पुराने धर्म कहा करते थे कि नास्तिक वह है जो ईश्वर में विश्वास नहीं करता और नया धर्म कहता है कि नास्तिक वह है जो अपने आप में विश्वास नहीं करता। यदि मानव-जाति के आज तक के इतिहास में महान पुरुषों तथा स्त्रियों के जीवन में सबसे बड़ी प्रवर्तक शक्ति कोई है, तो वह आत्म-विश्वास ही है। गीता में भी अर्जुन को आत्मविश्वास का पाठ पढ़ाते हुए श्रीकृष्ण कहते हैं –

उद्धरेतात्मनात्मानं नात्मानमवसादयेत्।
आत्मैव ह्यात्मनो बन्धुरात्मैव रिपुरात्मनः॥ ६/५

– अर्थात् मनुष्य अपने द्वारा (स्वयं ही) अपना कल्याण करे, अपने को नीचे न गिरावे, क्योंकि वह स्वयं ही अपना मित्र भी है और शत्रु भी।

तो यह जो अपने ऊपर विश्वास का, अपने देश के समुज्ज्वल भविष्य पर

विश्वास का पाठ है, यह राष्ट्रोन्नति का पहला सोपान है, जो आलस्य तथा अकर्मण्यता को पैरों तले रौंदता हुआ चलता है।

राष्ट्रोन्नति के दूसरे सोपान के रूप में हमें अन्धविश्वास और कुसंस्कार का खात्मा करना होगा। अन्धविश्वास मानसिक दुर्बलता का परिचायक है और प्रगति का विरोधी है। अन्धविश्वास के कारण छल-कपट और जादूफरेब हमारे लिए धर्म का अंग बन जाते हैं और हमारे विवेक को कुन्द कर देते हैं। आज हमें जिसकी आवश्यकता है, वह है लोहे के पुट्ठे और फौलाद के स्नायु। हम ऐसा धर्म चाहते हैं, जो हमें 'मर्द' बना सके। हम ऐसे सिद्धान्त चाहते हैं, जो हमारी मनुष्यता का विकास कर सके। हम ऐसी सर्वांगसम्पन्न शिक्षा चाहते हैं, जो हमारे मनुष्यत्व को प्रकट कर दे। हम सत्य के पक्षधर बनें, क्योंकि वही अन्धविश्वास का विनाश कर सकता है। और सत्य की कसौटी यह है – जो भी हमें शारीरिक, मानसिक तथा आध्यात्मिक दृष्टि से दुर्बल बनावे, उसे ज़हर की भाँति त्याग देना चाहिए, क्योंकि उसमें जीवनी-शक्ति नहीं है। सत्य वह है, जो बलप्रद है, पवित्रतास्वरूप है, जो हृदय के अन्धकार को दूर कर उसमें स्फूर्ति भर देता है। जीवन में सत्य की प्रतिष्ठा अन्धविश्वास का निराकरण करेगी।

देश को ऊपर उठाने के लिए तीसरा सोपान है – प्रेम और सहानुभूति। देशभक्ति केवल नारेबाजी तक सीमित न हो, वह हमारी नसों में बहनेवाले रक्त में मिल जाय और हमें देश के कल्याण के प्रति सदैव जागरूक रखे। अमेरिका के राष्ट्रपति केनेडी ने जो कहा था – Ask not what the nation has done for you, ask what you have done for the nation – यह न पूछो कि राष्ट्र ने तुम्हारे लिए क्या किया है, बल्कि यह पूछो कि तुमने राष्ट्र के लिए क्या किया है – यही देशभक्ति की खरी कसौटी है।

व्यक्ति की देशभक्ति तीन स्तरों पर प्रकट होती है। पहले स्तर पर वह देश की समस्याओं का चिन्तन करता है, वह अपने हृदय से देशवासियों के लिए अनुभव करता है। दूसरे स्तर पर वह देश की दुर्दशा के निवारण तथा उसकी समस्याओं को दूर करने के उपाय खोजता है। तीसरे स्तर पर वह उन उपायों के कार्यान्वन में जी-जान से लग जाता है। बस, ऐसी ही लगन तथा निष्ठा, दृढ़ मनोबल तथा इच्छाशक्ति ही आलस्य तथा कुसंस्कारों को दूर कर देश को ऊपर उठा सकती है।

❑ ❑ ❑

श्रीरामकृष्ण-वचनामृत-प्रसंग

(उनसठ, साठ तथा इकसठवाँ प्रवचन)

स्वामी भूतेशानन्द

(स्वामी भूतेशानन्दजी महाराज रामकृष्ण मठ/मिशन, के महाध्यक्ष हैं। उन्होंने पहले बेलुड़ मठ और तदुपरान्त रामकृष्ण योगोद्यान, काकुड़गाछी, कलकत्ता में 'श्रीरामकृष्ण कथामृत' पर बँगला में धारावाहिक रूप से चर्चा की थी। यह प्रवचनमाला संग्रहित होकर छह भागों में प्रकाशित हुई है। इसकी उपादेयता को देखते हुए हम भी इसे धारावाहिक रूप से यहाँ प्रकाशित कर रहे हैं। इसके हिन्दी अनुवादक श्री राजेन्द्र तिवारी सम्प्रति श्रीराम संगीत विद्यालय, रायपुर में अध्यापक हैं। - सं.)

सुरेन्द्र ठाकुर के अन्तरंग शिष्यों में एक हैं। उनके घर में अन्नपूर्णा-पूजा के अवसर पर निमंत्रित होकर ठाकुर का आगमन हुआ है। सुरेन्द्र के घर के आँगन में वे बैठे हैं। उन्हें एक तकिया दिया गया, परन्तु उन्होंने खिसका दिया। कहते हैं, "तकिये के सहारे बैठना ! जानते हो न, अभिमान छोड़ना बड़ा कठिन है। अभी विचार कर रहे हो कि अभिमान बिल्कुल भी नहीं है, परन्तु फिर न जाने कहाँ से आ जाता है !" सभा में तकिये के सहारे बैठना यानी मैं साधारण आदमी नहीं हूँ। यदि तकिया न दे, तो कहेगा कि एक तकिया तक नहीं दिया ? अभिमान सहज ही नहीं जाता। विचार करके हटा देने पर भी, कभी भी पुनः आ जाता है। ठाकुर ने कटे हुए बकरे का उदाहरण दिया, "बकरा काट डाला गया है, फिर भी उसके अंग हिल रहे हैं।" और भी एक दृष्टान्त देकर समझाते हैं, "स्वप्न में डर गये हो; आँखें खुल गयीं, बिल्कुल सचेत हो गये, फिर भी छाती धड़क रही है। अभिमान ठीक ऐसा ही है। हटा देने पर भी न जाने कहाँ से आ जाता है; बस, आदमी मुँह फुलाकर कहने लगता है – मेरा आदर नहीं किया।" ठाकुर कहते हैं, "मैं भक्तों की रेणु-की-रेणु हूँ।" उनमें अभिमान नहीं है।

कलकत्ता के हाईकोर्ट के वकील वैद्यनाथ आये हैं। सुरेन्द्र श्रीरामकृष्ण के साथ उनका परिचय करा रहे हैं। वे ठाकुर से कुछ पूछने आये हैं। प्रश्न करने के पहले ही ठाकुर स्वयं वैद्यनाथ से कहते हैं, "जो कुछ देख रहे हो, सब उनकी शक्ति है। परन्तु एक बात है, उनकी शक्ति सब जगह समान नहीं है। ईश्वर सर्वभूतों में विभुरूप से विराज रहे हैं, केवल शक्ति का भेद है।" उनकी ही शक्ति से सब हो रहा है, तो भी उनकी शक्ति सर्वत्र समान नहीं है, शक्ति में तारतम्य है। वैसे सर्वभूतों में वे विभुरूप

से हैं अर्थात् उन्होंने स्वयं को अनेक रूपों में व्यक्त किया है, इसी दृष्टि से सब समान हैं। परन्तु शक्ति की अभिव्यक्ति भिन्न भिन्न है, किसी में शक्ति का प्रकाश अधिक है, तो किसी में कम।

स्वाधीन इच्छा

वैद्यनाथ प्रश्न करते हैं, "यह जो स्वाधीन इच्छा (Free Will) की बात होती है – कहते हैं कि हम चाहें तो अच्छा काम भी कर सकते हैं और बुरा भी – यह क्या सत्य है ? क्या हम सचमुच स्वाधीन हैं ?" यह प्रश्न आधुनिक शिक्षा प्राप्त लोगों के मन को कई बार उलझन में डाल देता है। कोई कहता है, "ईश्वर की इच्छा से ही सब हो रहा है।" कोई अन्य कहता है, "हम स्वाधीनतापूर्वक ही सब कर रहे हैं।" कौन-सा सही है ? शास्त्र कहते हैं – अच्छे कर्म करो। प्रश्न उठता है कि पहले यह तो ठीक हो कि हम अच्छे कार्य कर भी सकते हैं या नहीं। शास्त्र को माननेवाले कहते हैं कि चूँकि शास्त्र अच्छे कार्य करने को कहते हैं, इसका तात्पर्य यह है कि इच्छा होने पर तुम अच्छे कार्य कर सकते हो। एक वृक्ष से कोई नहीं कहता कि 'तुम सत्य बोलो' अथवा एक पत्थर से कोई नहीं कहता कि 'तुम तीर्थदर्शन करो' – जहाँ पर सामर्थ्य नहीं है, वहाँ यह प्रश्न ही नहीं उठता। मनुष्य में सामर्थ्य है – ऐसा मान लिया जाता है। तुम कर भी सकते हो, नहीं भी कर सकते हो, या फिर ऐसे न करके दूसरी तरह से भी कर सकते हो।

हम जो समझते हैं कि हम स्वाधीन हैं – यह प्रश्न मन को परेशान करता है। इसकी मीमांसा अभी बुद्धि के सहारे नहीं हो सकी है। एक व्यक्ति कहता है, "अपने हाथ को उठाना या नीचे करना मेरी अपनी इच्छा से हो रहा है।" दूसरा व्यक्ति कहेगा, "हाथ को उठाना या गिराना पूर्वनियोजित था, इसलिए वैसा करते हो। तुम्हारे पास दूसरी दृष्टि नहीं है, इसीलिए कहते हो कि मैं अपनी इच्छा से हाथ उठाता या गिराता हूँ।" ठाकुर यहाँ पर एक उसी 'अन्य दृष्टि' की बात कहते हैं, "जब तक ईश्वर नहीं मिलते, तब तक जान पड़ता है कि हम स्वाधीन हैं। यह भ्रम वे ही रख देते हैं।"

उनकी इच्छा से ही सब होता है। हम उन्हें नहीं जानते इसलिए समझते हैं कि हम स्वतंत्र हैं। क्रिया के पीछे उन्हें कर्ता के रूप में नहीं देखते, इसीलिए स्वयं को कर्ता समझते हैं। प्रश्न उठता है कि यदि हम स्वाधीन नहीं हैं, सब कुछ यदि ईश्वर की इच्छा से ही होता है, तो फिर पाप-पुण्य का फल हम क्यों भोगेंगे, वे ही भोगें। ठाकुर कहते हैं, "यह भ्रम वे ही रख देते हैं, नहीं तो पाप की वृद्धि होती, पाप से कोई

न डरता।" इस स्वाधीन-इच्छा का बोध ईश्वर ने ही हमारे भीतर रख दिया है, नहीं तो पाप की वृद्धि होती। अच्छे-बुरे कर्मों का फल हमें ही भोगना होगा – यह बोध न रहने पर, हमारी जो इच्छा होती वही करते और इसके परिणामस्वरूप पाप में वृद्धि होती। भगवान की प्राप्ति होने पर बोध होगा कि हम जो भी करते हैं, वह सब उन्हीं के द्वारा नियंत्रित तथा प्रेरित होकर यंत्र के रूप में करते हैं। स्वाधीन इच्छा नाम की कोई वस्तु नहीं है।

ठाकुर वैद्यनाथ से कहते हैं, "तर्क करना अच्छा नहीं।" वे भी समर्थन करते हैं, "जी हाँ, ज्ञान होने पर तर्क करने का स्वभाव नष्ट हो जाता है।" तर्क करने से मना करते हैं अर्थात् किसी एक व्यक्ति के साथ केवल वाद-विवाद करके अपने सिद्धान्त को दूसरे के सिर पर मढ़ देने का जो प्रयास है, ठाकुर उसी के बारे में कह रहे हैं। जिस तर्क या विचार के द्वारा सत्य को जानने का प्रयास किया जाता है, उसकी बात नहीं कहते।

ईश्वर-दर्शन के सम्बन्ध में कहते हैं कि सत्य को पाने के लिए साधुसंग की आवश्यकता है। "लोग सोचते हैं कि इन्होंने अगर ईश्वर को देखा है, तो हमें भी दिखायें तब मानेंगे। परन्तु नाड़ी देखना कोई एक दिन में थोड़े ही सीख लेता है!" ठाकुर कहते हैं – सत्य को जानने के लिए ऐसे लोगों का संग करना होगा, जिन्होंने सत्य को जानने के लिए अपना जीवन लगा दिया है। उनके मार्ग का अनुसरण करके चलना होगा। वहाँ तर्क करके नहीं, विशेष आग्रहपूर्वक श्रद्धावान होकर सत्य को जानने का मार्ग जानना पड़ता है।

(साठवाँ प्रवचन)

अन्नपूर्णा-पूजन के उपलक्ष्य में संकीर्तन होगा। मृदंग बजाया जा रहा है। गौरांग की कथा होगी। पहले गौर-चन्द्रिका से आरम्भ हुआ। पदावली-साहित्य की इस कथा का एक विशेष तात्पर्य है। गाने के पूर्व श्रीचैतन्य की वन्दना होती है। कीर्तन के पूर्व उसी भाव का श्री गौरांग-विषयक भजन गाया जाता है। ऐसा क्यों किया जाता है ? भगवान को अवतारों के माध्यम से ही जानना पड़ता है। श्री गौरांग को देखकर उनके भीतर से श्रीकृष्ण को समझना आसान होता है। मनुष्य के माध्यम से ही उन लोकोत्तर पुरुष का चिन्तन हो सकता है। नरलीला के द्वारा ही दिव्यलीला तक पहुँचा जाता है। कीर्तन के सामान्य नियम के अनुसार गौरचन्द्रिका के बाद श्रीकृष्ण-लीला का वर्णन तथा इसके बाद मिलन में समाप्ति की जाती है। गम्भीरता के साथ ये साधनाएँ करनेवाले अधिकांश वैष्णव-साधक केवल विरह ही सुनते हैं,

मिलन नहीं सुनते। भगवान के प्रति तीव्र विरह उत्पन्न करने के लिए यही उनकी साधना है। यहाँ पर प्रथा के अनुसार युगल-मिलन के साथ कीर्तन समाप्त हुआ। ठाकुर 'भागवत-भक्त-भगवान' – इस मंत्र का उच्चारण करते हुए बारम्बार भूमिष्ठ हो प्रणाम कर रहे हैं। भगवान की कथा हुई है, इसलिए यह स्थान पवित्र हो गया है।

निराकार भजन

रात के लगभग साढ़े नौ बजे होंगे। ठाकुर अब दक्षिणेश्वर लौटेंगे। माँ की पूजा हुई, पर उनकी वन्दना नहीं हुई। मातृभक्त सुरेन्द्र मानो इस पर खेद व्यक्त करते हुए कहते हैं, "परन्तु आज माँ का एक भी भजन नहीं हुआ।" ठाकुर उनके मन के इस खेद को दूर करने के लिए कहते हैं, "माँ मानो अपनी दिव्य छटा छिटकाकर बैठी हुई हैं। इस रूप का दर्शन करने पर कितना आनन्द होता है!" तो भी जो लोग इस रूप को न जानकर निराकार रूप का चिन्तन करते हैं, उनको क्या उपलब्धि नहीं होती ? ऐसी बात नहीं है। ठाकुर कहते हैं – जरा भी विषय-बुद्धि के रहते यह निराकार-दर्शन नहीं होता। ऋषिगण सर्वत्यागी थे, वे लोग अखण्ड-सच्चिदानन्द निराकार की साधना कर सके थे। इस तरह का भाव न होते हुए भी जो लोग निराकार रूप में ईश्वर का चिन्तन करना चाहते हैं, उन्हीं के बारे में ठाकुर यहाँ पर कहते हैं, "आजकल ब्रह्मज्ञानी उन्हें 'अचलघन' कहकर गाते हैं। मुझे यह अलोना लगता है।" शब्द के पीछे जो है, उन्हें ग्रहण न कर पाने से, उनका अनुभव किए बिना, केवल शब्दों का उच्चारण करने से कोई लाभ नहीं होता। "जो लोग निराकार-निराकार करके कुछ नहीं पाते, उनके न है बाहर और न है भीतर।" यह कहकर ठाकुर माँ के भजन गा रहे हैं – "माँ, आनन्दमयी होकर तुम मुझे निरानन्द में मत रखना"– "मेरे मन दुर्गानाम जपो।" ये भजन गाने के बाद उन्होंने फिर प्रतिमा के समक्ष प्रणाम किया। सीढ़ियों से उतरते समय पुकारकर कहते हैं, "ओ रा... जू.. हैं?" अर्थात् – ओ राखाल, जूते सब हैं या खो गये ? ठाकुर जब समाधि में रहते, तब उन्हें देह की विस्मृति हो जाती थी, परन्तु जब वे व्यावहारिक धरातल पर रहते, तब किसी भी विषय में वे असावधान नहीं रहते थे। किसी में अन्यमनस्क व्यवहार देखकर वे नाराज होते थे। जो एक ओर ध्यान नहीं दे पाता, वह दूसरी ओर भी नहीं दे सकता। मन पर प्रभुत्व नहीं है, इसीलिए हमसे भूल होती है। वे चाहते हैं कि मनुष्य का व्यावहारिक जीवन सुशृंखल हो। व्यावहारिक जीवन असम्बद्ध होने पर आध्यात्मिक जीवन भी असम्बद्ध होगा। जिनका जीवन सुशृंखल है, वे जब भगवान का चिन्तन करते हैं, तो उनका मन यह चिन्तन सुसम्बद्ध

रूप से ही करता है। ठाकुर मानो हमारे मन को इसी तरह से तैयार करने के लिए ही यहाँ संकेत दे रहे हैं। ठाकुर की दृष्टि व्यावहारिक भूमि पर सतर्क थी और जब वे आध्यात्मिक गहराई में निमग्न होते, तब कोई होश नहीं रह जाता – यही उनका वैशिष्ट्य है।

(इकसठवाँ प्रवचन)

श्रीरामकृष्ण बलराम के घर गये थे, फिर वहाँ से अधर के यहाँ से होते हुए राम दत्त के घर आये हैं। राम दत्त ठाकुर को श्रीमद् भागवत सुनवायेंगे। भागवत का पाठ हो रहा है – कथक हरिश्चन्द्र की कथा का वर्णन कर रहे हैं। हरिश्चन्द्र की करुण कथा सुनकर श्रोताओं के नेत्र सजल हो उठे। वे हा हा करके रो रहे हैं। करुण रस का अनुभव बड़ी तीव्र गति से होता है। श्रीरामकृष्ण क्या कर रहे हैं ? वे स्थिर होकर सुन रहे हैं। उनकी आँखों की कोनों में एक बूँद आँसू झलक आने पर उन्होंने उसे पोंछ लिया। अन्य लोगों के समान उन्होंने भी अधीर होकर रुदन क्यों नहीं किया ? जो स्थितप्रज्ञ हैं, वे दुःख में अनुद्विग्न, गम्भीर तथा शान्त रहते हैं। इसका अर्थ यह नहीं कि लोगों के दुःख में ठाकुर सहानुभूति नहीं दिखाते। वे जब जिस अवस्था में रहते हैं, उस समय उनकी वैसी ही अभिव्यक्ति होती थी।

उद्धव-संवाद और प्रेमभक्ति

ठाकुर कथावाचक से बोले, "कुछ उद्धव-संवाद कहो।" हरिश्चन्द्र-कथा की करुणधारा को थोड़ा मोड़ देने के लिए ही मानो ठाकुर ने उद्धव-संवाद पर बोलने को कहा। प्रत्येक काव्य या कथा में एक स्थायी भाव है, जो हमारे मन को हिला देता है। उद्धव-संवाद में गोपियाँ आकर उनके समक्ष वृन्दावन-लीला की व्याख्या करती हैं। श्रीकृष्ण के लिए गोपियों की व्याकुलता उद्धव देखते हैं। वे कहते हैं, "आप लोग कृष्ण के लिए इतना कातर क्यों होती हैं ? वे तो सर्वभूतों में हैं।" गोपियाँ कहती हैं, "हम तो अपने वृन्दावन-विहारी श्रीकृष्ण को ही जानती हैं।" उद्धव ज्ञानी हैं, अपने ज्ञान की सहायता से वे गोपियों को समझाते हैं कि कृष्ण साक्षात भगवान हैं, उनका चिन्तन करने से मुक्ति हो जाती है। गोपियों की प्रेमाभक्ति है, वे कहती हैं, "मुक्ति आदि बातें हम नहीं समझतीं। हम तो अपने प्राणप्रिय कृष्ण को ही देखना चाहती हैं।" उद्धव ज्ञानी हैं, अतः गोपियों का यह मनोभाव – भगवान का सान्निध्य पाने के लिए यह व्याकुलता – उनके लिए बोधगम्य नहीं हो पा रहा है। भगवान ध्यानगम्य हैं, उनका चिन्तन करने से संसार-सागर से पार हुआ जा सकता है, नित्यानन्द में मग्न हुआ जा सकता है; परन्तु वे मुक्ति नहीं चाहतीं और

यह बात उद्धव समझ नहीं पाते। जो मुक्ति साधकों के लिए काम्य है, गोपियाँ उसे नहीं चाहतीं। उनके लिए वह तुच्छ है, देने से भी नहीं लेंगी। भागवत में कहा है –

सालोक्य-सार्ष्टि-सामीप्य-सारूप्यैकत्वमप्युत।
दीयमानं न गृह्णन्ति विना मत्सेवनं जनाः॥ ३/२९/१३

– सच्चे भक्त विभिन्न प्रकार की मुक्ति देने पर भी ग्रहण नहीं करेंगे। यदि भगवान की सेवा का सुयोग हो, तभी मुक्ति लेना चाहते हैं। अर्थात मुक्ति उनका लक्ष्य नहीं है, वह केवल उपाय मात्र है, ताकि भगवान के पास निरन्तर रहकर उनकी सेवा कर सकें। ज्ञानी की मुक्ति में भक्त का भगवान में विलय हो जाने से वहाँ कोई पार्थक्य नहीं रह जाता। परन्तु ऐसी मुक्ति भक्त नहीं चाहते। ठाकुर गोपियों के भाव को समझाने के लिए एक पद गाते हैं – ''मैं मुक्ति देने में कातर नहीं होता, पर शुद्धा-भक्ति देने में कातर होता हूँ।'' ठाकुर कहते हैं, ''गोपियों की भक्ति थी प्रेमाभक्ति – अव्यभिचारिणी भक्ति – निष्ठा भक्ति।'' जिस भक्ति के साथ ज्ञान मिश्रित हो, उसे व्याभिचारिणी भक्ति रहते हैं। ज्ञानमिश्रा भक्ति कैसी होती है ? वे ही सब हुए हैं – राम, कृष्ण, शिव आदि – यह हुई ज्ञानमिश्रा भक्ति। प्रेमाभक्ति में इस ज्ञान का मिश्रण नहीं होता। ठाकुर ने यहाँ पर हनुमानजी का दृष्टान्त दिया। द्वारका में आकर भी हनुमान श्रीकृष्ण का राम-रूप में दर्शन चाहते हैं। विभीषण का दृष्टान्त दिया – राजसूय यज्ञ के समय सभी राजा युधिष्ठिर को प्रणाम करते हैं, किन्तु विभीषण नहीं करते। उन्होंने राम के चरणों में सिर झुकाया है, अब और किसी को प्रणाम नहीं करेंगे। जब स्वयं कृष्ण युधिष्ठिर को प्रणाम करते हैं, तब विभीषण ने भी राजा को प्रणाम किया। ठाकुर ने एक और दृष्टान्त दिया है – घर की बहू सबकी सेवा करती है, परन्तु पति के साथ उसका दूसरे ही तरह का सम्बन्ध है। गोपियों की इस तरह की निष्ठापूर्ण भक्ति है।

ठाकुर प्रेमाभक्ति के दो लक्षण बताते हैं – अहंता और ममता। अहंता अर्थात मैं उनकी देखभाल करूँगी, उनकी सेवा करूँगी। मैं नहीं करूँगी, तो कौन करेगा, उन्हें रोग-व्याधि होगी – यही भाव रहता है। यशोदा का यही भाव था। श्रीराधा का भी वही भाव था। श्रीकृष्ण जब चन्द्रावली के पास चले जाते हैं, तो राधारानी सोचती हैं कि वह सेवा करना नहीं जानती, इससे कृष्ण को कष्ट होगा – श्रीराधा का यही भाव है। ममता हो जाने पर ऐसा लगता है कि वे मेरे अपने हैं। 'मेरा' गोपाल, 'ममत्व'का बोध। उद्धव यशोदा के पास जाकर कहते हैं, ''कृष्ण संसार के चिन्तामणि हैं।'' माँ यशोदा कहती हैं, ''चिन्तामणि नहीं, यह बताओ कि मेरा

गोपाल कैसा है ?'' 'मेरा गोपाल' – यह जो बोध है, यही 'ममता' है। गोपियों का भाव अलग है। ठाकुर कहते हैं, ''द्वारका के लोग कृष्ण के साथ राधा की पूजा नहीं करते, अर्जुन के साथ कृष्ण की पूजा करते हैं। वे लोग राधा को नहीं चाहते।'' दक्षिण में भी राधा की चर्चा नहीं है। भागवत में राधा नाम का उल्लेख नहीं मिलता। भगवान ने गोपियों के साथ जो रासलीला की है, वहाँ एक प्रधान गोपी का वर्णन है। वे श्रीकृष्ण को अन्य गोपियों से दूर ले जाकर उनके साथ विहार करती हैं। वैष्णवजन ने उन्हीं की राधारूप में कल्पना कर ली है। राधा क्यों ?

अनयाराधितो नूनं भगवान हरिरीश्वरः। (भागवत १०/३०/२८)

– उन्होंने अवश्य ही भगवान का भजन किया है, इसीलिए उन्हें हमसे अलग ले जाकर वे विहार कर रहे हैं। 'राधा' शब्द 'अनयाराधितः' से आया है। स्पष्ट रूप से राधा का उल्लेख नहीं है, केवल इंगित किया गया है। सभी लोग राधा की पूजा नहीं करते। राधा वृन्दावन का भाव है। इस भाव का प्रतिबिम्ब चैतन्य महाप्रभु में प्राप्त होता है। बंगाल में राधाभाव विशेष रूप से प्रस्फुटित हुआ और वहीं से उड़ीसा तथा आसाम में कुछ कुछ प्रचारित हुआ।

ज्ञानमिश्रा भक्ति और प्रेमाभक्ति – इनमें से कौन-सी अच्छी है ? ठाकुर कहते हैं, ''ईश्वर पर एकान्त अनुराग हुए बिना प्रेमाभक्ति नहीं होती। और चाहिए 'ममत्व' – ज्ञान अर्थात भगवान मेरे अपने हैं, यह ज्ञान।'' भगवान के प्रति प्रेम, खूब अपनापन होना चाहिए। इतना अपनापन हो जाता है कि फिर वे ऐश्वर्यशाली नहीं लगते। खूब प्रेम होने पर प्रेमपात्र छोटा प्रतीत होता है। कारागार में श्रीकृष्ण का जन्म हुआ। भगवान ने वसुदेव और देवकी को चतुर्भुज रूप में दर्शन दिया। देवकी को यह सोचकर भय हो रहा है कि कंस उनका यह रूप देखकर मार न डाले। भगवान ने उन्हें अपने वास्तविक रूप में दर्शन दिया, पर वे उन्हें सन्तान के रूप में देख रही हैं; माँ का हृदय है न ! इसीलिए अमंगल की आशंका से डर रही हैं। उनके मन में यह बात नहीं आती कि जो सर्व-ऐश्वर्य-सम्पन्न ईश्वर हैं, जिनकी इच्छा से विश्व-ब्रह्माण्ड चल रहा है, उन्हें कंस भला कैसे मार सकेगा ? अत्यधिक प्रेम होने पर ऐसा ही होता है। भगवान यदि गोपियों को सर्वदा विश्वनियन्ता के रूप में दर्शन दें, तो भी वे नहीं देखना चाहतीं। वे भगवान की भगवत्ता नहीं देखना चाहतीं। उनका ऐश्वर्य भक्त को प्रलोभित नहीं करता, वे भगवान से कुछ नहीं चाहते, यही प्रेमाभक्ति का लक्षण है।

(क्रमशः)

एक निवेदन

भगवान श्रीरामकृष्ण, माँ सारदा तथा स्वामी विवेकानन्द के चरणरेणु से तीर्थीकृत तथा उनकी स्मृतियों से जुड़े समग्र हिन्दू जाति के आकर्षण-केन्द्र ज्योतिर्लिंग बाबा वैद्यनाथ की इस पुनीत नगरी देवघर में रामकृष्ण संघ द्वारा परिचालित प्रथम शिक्षण संस्थान रामकृष्ण मिशन विद्यापीठ की स्थापना १९२२ ई. में हुई। भगवान श्रीरामकृष्ण के अन्यतम पार्षद श्रीमत् स्वामी तुरीयानन्द महाराज की प्रेरणा तथा स्वामी विवेकानन्द के शिक्षादर्शों पर आधारित ७५ वर्ष पूर्व आरम्भ किया गया यह शिक्षण-संस्थान आज पूरे भारतवर्ष में विख्यात है। रामकृष्ण संघ के द्वितीय अध्यक्ष परम पूजनीय स्वामी शिवाानन्दजी महाराज ने भविष्यवाणी की थी, "इस विद्यापीठ के माध्यम से भविष्य में अत्यन्त महान कार्य सम्पन्न होगा, इसका भविष्य बड़ा ही उज्ज्वल है।"

विद्यापीठ के बहुमुखी कर्म-प्रवाह में आर्थिक अवस्था से विपन्न ४०० छात्रों के लिए आज 'विवेकानन्द बाल-केन्द्र' मुख्य इकाई के रूप में कार्यरत है, जिसमें निःशुल्क शैक्षिक तथा क्रीड़ा-सम्बन्धी एवं व्यावसायिक प्रशिक्षण की व्यवस्था है। इस अनुन्नत वर्ग को ही नवीन भारत का आधार बनाते हुए स्वामीजी ने कहा था –

"एक नवीन भारत निकल पड़े। निकले हल पकड़कर, किसानों की कुटी भेदकर, मछुए, माली, मोची, मेहतरों की झोपड़ियों से। निकल पड़े बनियों की दुकान से, भुजवा के भाड़ के पास से, कारखाने से, हाट से, बाजार से। निकले जंगलों से, पहाड़ों-पर्वतों को भेदते हुए।" इस वाणी को ध्यान में रखते हुए सर्वाधिक पिछड़े, सबसे अधिक दबे हुए वर्ग को अपने विनम्र भाव से शिक्षित करने के प्रयास में **'विवेकानन्द बाल-केन्द्र'** अनवरत संलग्न है।

सम्प्रति इन छात्रों की यथोक्त शिक्षा के लिए एक स्थायी भवन की नितान्त आवश्यकता है, जिसकी अनुमानित लागत १० लाख रुपये है। अतः रामकृष्ण मिशन विद्यापीठ, देवघर की ओर से मैं इस महान एवं पवित्र कार्य को सम्पन्न करने के लिए आप उदारचेताओं से सहयोग की महती प्रार्थना करता हूँ।

निवेदक,

स्वामी सुवीरानन्द

सचिव, रामकृष्ण मिशन विद्यापीठ, देवघर (बिहार)

नोट: १. रामकृष्ण मिशन विद्यापीठ, देवघर के नाम से ही चेक या ड्राफ्ट भेजे जायँ।

२. रामकृष्ण मिशन को दिये गये दान धारा ८० (G) के अनुसार आयकर से मुक्त हैं।

मानस-रोग (२८/२)

पण्डित रामकिंकर उपाध्याय

(हमारे आश्रम द्वारा आयोजित विवेकानन्द जयन्ती समारोह के अवसरों पर पण्डितजी ने 'श्रीरामचरितमानस' के 'मानस-रोग' प्रकरण पर कुल ४५ प्रवचन दिये थे। प्रस्तुत अनुलेखन उनके अट्ठाइसवें प्रवचन का पूर्वार्ध है। टेपबद्ध प्रवचनों को लिपिबद्ध करने का श्रमसाध्य कार्य श्री राजेन्द्र तिवारी ने किया है, जो सम्प्रति श्रीराम संगीत महाविद्यालय, रायपुर में अध्यापन करते हैं। – सं०)

रामचरितमानस में सुमधुर रामकथा के बाद उत्तरकाण्ड के अन्त में मानस रोगों की चर्चा की गयी है। वैसे परम्परा तो **'मधुरेण समापयेत्'** की है – सुस्वादु भोजन के उपरान्त मिष्ठान्न परोसा जाता है, जिससे भोजन बड़ा ही रसमय प्रतीत होता है। परन्तु मानस में क्रम कुछ भिन्न है। इसमें पहले मधुर रामकथा परोसने के बाद मानस रोगों के निदान तथा चिकित्सा पर चर्चा की गयी है। रोग तथा चिकित्सा की चर्चा कोई मधुर और रसमय प्रसंग तो नहीं होता, परन्तु इसके बावजूद गोस्वामीजी ने मानस में विपरीत क्रम अपनाया है और मधुर रामकथा के उपरान्त रोग तथा औषधि सम्बन्धी कुछ ऐसी बातें प्रस्तुत की हैं, जो कड़वी हैं। इसे हम यूँ भी कह सकते हैं कि व्यक्ति अगर स्वस्थ है, तो उसका भोजन मधुरता से समाप्त होना चाहिए। परन्तु रोगी व्यक्ति को यदि आवश्यक हुआ तो वैद्य भोजन के उपरान्त कड़वा चूर्ण देने में भी संकोच नहीं करते। यद्यपि उस रोगी के भोजन का समापन मधुरता के स्थान पर कड़वी औषधि से होता है, पर उस औषधि की सहायता से वह भोजन को सही ढंग से पचाकर शक्ति प्राप्त करता है और पाचन के विकृतिजन्य रोग से बच जाता है।

रामकथा यदि सुस्वादु भोजन की तरह है, तो मानस-रोगों का वर्णन औषधि के समान है। इसका तात्पर्य यह है कि रामकथा की मधुरता को भी पचाने के लिए यह आवश्यक है कि व्यक्ति की पाचन-शक्ति अर्थात धारणा-शक्ति ठीक हो। अगर व्यक्ति स्वस्थ न हो तो स्वादिष्ट भोजन भी उसके लिए गरिष्ठ होकर अजीर्ण का कारण बन सकता है। ठीक इसी प्रकार सुनने तथा सुनानेवाला व्यक्ति यदि स्वस्थ नहीं है, तो ऐसी स्थिति में रामकथा की मधुरता उनके लिए मंगलकारिणी नहीं हो सकती। इसीलिए मानस के आदि और अन्त में उपक्रम तथा उपसंहार के रूप में मानस-रोगों तथा उनकी चिकित्सा पर चर्चा हुई है।

मानस का प्रारम्भ रामकथा से नहीं होता। सर्वप्रथम उसमें वन्दना है। वैसे तो गोस्वामीजी ने अपने सभी आराध्यों की बड़ी भावपूर्ण वन्दना की है, परन्तु सर्वाधिक महत्व उन्होंने अपने गुरुदेव को दिया है। अपने गुरुदेव की वन्दना में वे एक बड़ा ही महत्वपूर्ण संकेतसूत्र देते हैं। उस सूत्र में दोनों ओर संकेत करते हुए उत्तरकाण्ड में जहाँ एक ओर मानस-रोगों का वर्णन किया गया है, वहीं उसके अन्त में सद्गुरु का भी वैद्य के रूप में वर्णन किया गया है –

सदगुर बैद बचन बिस्वासा। संजम यह न विषय कै आसा।।
रघुपति भगति सजीवन मूरी। अनूपान श्रद्धा मति पूरी।।
एहि बिधि भलेहिं सो रोग नसाहीं।
नाहिं त जतन कोटि नहिं जाहीं।। ७/१२२/६-८

अभिप्राय यह है कि सद्गुरु ही मन के रोगों को दूर करनेवाले वैद्य हैं। इसीलिए गोस्वामीजी जब रामकथा आरम्भ करने के पूर्व गुरुदेव की वन्दना करते हुए उनके इसी वैद्य रूप की ओर संकेत करते हुए कहते हैं कि गुरुदेव का चरणरज एक दिव्य औषधिरूप चूर्ण है, जो अमृतमय है और समस्त भवरोगों को दूर कर देता है –

बंदउँ गुरु पद पदुम परागा। सुरुचि सुबास सरस अनुरागा।।
अमिय मूरिमय चूरन चारू। समन सकल भव रुज परिवारू।। १/१/१-२

इस प्रकार गोस्वामीजी रामकथा आरम्भ करने के पूर्व भी मानो यह संकेत देते हैं कि इस रामकथा रूपी सुस्वादु व्यंजन का आस्वादन करने के पूर्व आप सद्गुरु वैद्य से चूर्ण ले लें, ताकि आपकी पाचनशक्ति तथा क्षुधा बढ़ जाय और रामकथा रूपी मधुर भोजन के बाद भी वह पाचक चूर्ण ले लें, ताकि वह ठीक से पच जाय।

प्रारम्भ में गुरुवन्दना के माध्यम से वे गुरुदेव से कथा को सुनने की योग्यता तथा उसमें रुचि के लिए याचना करते हैं, ताकि वे कथा का समुचित ढंग से रसास्वादन कर सकें। परन्तु भोजन का उद्देश्य केवल आस्वादन ही तो नहीं है। स्वाद तो तत्काल मिल जाता है, परन्तु उद्देश्य तो तब पूरा होता है, जब वह सही ढंग से पचकर तथा रक्त बनकर हमारे शरीर में संचरित होते हुए हमें शक्ति प्रदान करता है। इसलिए प्रारम्भ में एक ओर तो जहाँ हमारे अन्तःकरण में कथा-श्रवण की भूख बढ़े, कथा में रुचि बढ़े और उसके स्वाद की अनुभूति हो – इसलिए वे गुरुदेव की वन्दना करते हुए उनके चरण-कमल-पराग रूपी औषधि-चूर्ण की माँग करते हैं, वहीं कथा के अन्त में वे पुनः गुरुदेव का स्मरण करते हुए कहते हैं कि आपकी कृपा से स्वाद तो खूब मिला, परन्तु उद्देश्य तो तब पूरा होगा, जब कथा पच जायगी और शक्ति बनकर

रग रग में दौड़ने लगेगी। इसलिए अब आप मुझे पुनः वह औषधि रूपी चूर्ण प्रदान करें, जो मेरी पाचनशक्ति को बढ़ा दे। अभिप्राय यह है कि हमने रामकथा का जो रसास्वादन किया, वह हमारे जीवन में शक्ति का संचार करे, प्रेरणा उत्पन्न करे। यही कथा का वास्तविक उद्देश्य और सार्थकता है। इसीलिए गोस्वामीजी मधुर रामकथा के आदि तथा अन्त में औषधि की व्यवस्था करते हैं।

मानस के उत्तरकाण्ड में मानस-रोगों का वर्णन तथा विभिन्न पात्रों के माध्यम से उनका जो अद्‌भुत विश्लेषण किया गया है, इसका मुख्य तात्पर्य यह है कि कथा के इतने महान पात्रों के जीवन में भी इन रोगों को देखकर मनुष्य समझ ले और सावधान रहे। उसका प्रमाद दूर हो जाय। गोस्वामीजी से पूछा गया कि ऐसे कितने लोग हैं, जो इन मनोरोगों से ग्रस्त हैं। तो इसके उत्तर में उन्होंने स्पष्ट कह दिया –

हहिं सब कें लखि बिरलेन्ह पाए॥ ७/१२२/२

– ऐसा कोई भी व्यक्ति नहीं है, जो इनसे मुक्त हो। – परन्तु महाराज, ऐसा लगता तो नहीं है। गोस्वामीजी कहते हैं – यह भी एक समस्या है। – क्या ? – रोग है तो सबको, परन्तु 'लखि बिरलेन्ह पाए' – बहुत कम लोग ही उसे देख सके हैं। मन के रोगों के साथ सबसे बड़ी कठिनाई तो यह है कि हम उन्हें सरलता से देख नहीं पाते। शारीरिक रोग होने पर तत्काल पता चल जाता है, लेकिन मन का रोग होने पर नहीं लगता कि हम रोगी हैं। इसीलिए गोस्वामीजी साथ में एक अन्य बात जोड़ देते हैं और वह यह कि ये मनोरोग बीजरूप में मुनियों के अन्तःकरण में भी विद्यमान रहते हैं और उनके जीवन में भी जब कोई कुपथ्य होता है, तो दिखाई पड़ने लग जाते हैं –

मुनिहु हृदयँ का नर बापुरे॥ ७/१२२/४

मानस के श्रेष्ठतम पात्रों के जीवन में भी मन के रोगों का जो वर्णन किया गया है, उसमें बड़ा गहरा तात्पर्य निहित है। जब कहा गया कि लंका के रणांगण में लक्ष्मणजी को मेघनाद द्वारा चलायी गयी शक्ति लग गयी और वे मूर्छित होकर गिर पड़े, तो इसका क्या तात्पर्य है ? रामायण में जिनके चरित्र को सर्वश्रेष्ठ कहा जा सकता है, जो वैराग्य के घनीभूत रूप हैं, जिन्हें हम सदैव भगवान राम के अनुगामी के रूप में देखते है, जिनके जीवन में कहीं प्रमाद का लेशमात्र भी दृष्टिगोचर नहीं होता, जो रात्रि के समय भी निरन्तर सजग तथा सावधान रहते हैं, उनके जीवन में जब ऐसा प्रसंग आता है कि वे मेघनाद के बाण से मूर्छित होकर गिर जाते हैं, तो इसका अभिप्राय क्या है ? श्रीराम ने लक्ष्मणजी से कहा – लंका के रणांगण में मुझे

तुम्हारे स्वभाव में एक बदलाव दिखायी दिया। – क्या ? वैसे तो मैं जब कभी तुम्हें सोने के लिए कहता था, तो तुम सोते नहीं थे, बल्कि उल्टे सोनेवालों को जगा भी देते थे। तुम्हारे साथ जो बैठ जाय, उसकी नींद ही उड़ जाती थी; सो रहा हो, तो तुम्हारे भय से जाग जाता था। परन्तु आज तो यह बड़ी विचित्र बात हुई कि तुम लंका के रणांगण में सो गये और मैं रो-रोकर तुम्हें जगाता रहा, तो भी तुम नहीं जागे। लक्ष्मणजी के मूर्छित हो जाने पर श्रीराम ने रोते हुए उनसे कहा था –

सकहु न दुखित देखि मोहि काऊ। बंधु सदा तव मृदुल सुभाऊ॥
सो अनुराग कहाँ अब भाई। उठहु न सुनि मम बच बिकलाई॥ ६/६१/३,५

– अरे, तुम तो मुझसे इतना प्रेम करते थे, मेरे सुख के लिए तुम्हारे मन में इतनी चिन्ता रहती थी, परन्तु आज तुम्हें यह क्या हो गया है ? तुम युद्धभूमि में इस प्रकार सोये हुए हो कि मैं रो-रोकर तुम्हें जगा रहा हूँ, फिर भी तुम नहीं जागते।

बाद में उनके जागने पर प्रभु ने पूछा – लक्ष्मण, तुम निरन्तर जागनेवाले हो, परन्तु लंका में अचानक तुमने इतनी गहरी नींद ली, इतना सो गये, इसका क्या तात्पर्य है ? लक्ष्मणजी ने प्रभु के चरण पकड़ लिए और कहने लगे – प्रभो, जब मैंने देखा कि जीवन भर जागते रहने के बाद भी मेघनाद के बाण से मैं बच नहीं सका, तो समझ में आया कि जीव चाहे जितना भी जाग्रत क्यों न रहे, बुराई कभी-न-कभी उस पर प्रहार करके जीत ही जाती है और तब मुझे लगा कि आपकी गोद, आपकी कृपा का आश्रय लिए बिना, केवल जागरूकता ही व्यक्ति को बुराइयों से नहीं बचा सकती। बल्कि आज तो मेरा मूर्छित हो जाना भी सार्थक हो गया। क्योंकि अब तक तो चैतन्य रहने के लिए मैं स्वयं ही सजग भाव से जागता रहा। चैतन्य रहने की चिन्ता मुझे ही रहा करती थी, परन्तु आज जब मैं मेघनाद के बाण से मूर्छित हो गया, तब न तो मुझे चैतन्यता की चिन्ता रह गयी और न ही मूर्छा को दूर करने की। इस समय तो आपने ही वैद्य की व्यवस्था की और आपने ही मेरी मूर्छा को दूर करके मुझे चैतन्य प्रदान किया। वस्तुतः मेरी चैतन्यता तो आपकी कृपा से जुड़ी हुई है। इसीलिए गोस्वामीजी ने मानस-रोगों के सन्दर्भ में यह सूत्र दिया –

राम कृपाँ नासहिं सब रोगा। जौं एहि भाँति बनै संयोगा॥ ७/१२२/५

मन के रोगों को दूर करने के लिए जो विविध प्रकार की साधनाएँ हैं, उनकी आवश्यकता तो है ही, परन्तु जब तक उनके साथ रामकृपा न जुड़ी हो, तब तक व्यक्ति केवल अपने ही कर्तृत्व तथा सावधानी के द्वारा मन के दुर्गुणों तथा दुर्विचारों से बच पाने में समर्थ नहीं होता।

इन महान चरित्रवाले पात्रों के जीवन में भी मानस-रोगों का वर्णन पढ़कर कहीं हम ऐसा अर्थ न निकाल लें कि तब तो हमारे जैसे साधारण व्यक्ति के जीवन में तो यह अस्वाभाविक नहीं है। तब तो उल्टा अर्थ हो जायगा। यह वर्णन आत्म-सन्तोष की प्रेरणा देने के लिए नहीं है कि जब इतने बड़े बड़े महापुरुषों में भी मनो-रोग विद्यमान हैं, तो हम जैसे साधारण व्यक्ति के जीवन में उनका होना कोई चिन्ता की बात नहीं है। बल्कि इससे तो हमें यह समझ लेना होगा कि महान-से-महान व्यक्ति भी थोड़ी-सी असावधानी के कारण रोगग्रस्त हो जाता है, तब तो हम जैसे साधारण व्यक्ति को निरन्तर प्रभु की कृपा का आश्रय लिए हुए सावधान रहना चाहिए।

मन का यह रोग होता कैसे है ? जैसे शारीरिक रोगों के सन्दर्भ में कुपथ्य ही रोगों का कारण है, वैसे ही मानसिक रोगों का कारण भी कुपथ्य ही है। यह एक बड़ा ही महत्वपूर्ण सूत्र है। जैसे शरीर के सन्दर्भ में व्यक्ति को जब यह ज्ञात हो जाता है कि ये ये वस्तुएँ मेरे लिए कुपथ्य हैं, तो वह उनसे बचकर रहता है, क्योंकि कुपथ्य होते ही रोग प्रकट हो जाता है; वैसे ही जिन परिस्थितियों में मन के रोग उत्पन्न हो जाते हैं, उनसे हम सावधान रहकर बचने का प्रयास करना चाहिए। इसीलिए मानस के उत्कृष्टतम पात्रों के चरित्र द्वारा भी मन के रोगों का संकेत देते हुए साधक को निरन्तर सजग तथा सावधान रहने की प्रेरणा दी गयी है, ताकि वह इन मनो-रोगों से बचकर जीवन में स्वस्थता का अनुभव कर सके।

तो मानस-रोगों के प्रसंग में जिस रोग की चर्चा चल रही थी, वह है –

ममता दादु कंडु इरषाई। ७/१२०/३३

ममता दाद है और ईर्ष्या खुजली। ममता की तुलना गोस्वामीजी दाद से करते हैं। और उसी पंक्ति में अगले रोग के विषय में वे कहते हैं – ईर्ष्या ही मन की खुजली है। अब इसी को आपके सामने रखने का प्रयास किया जायगा। ईर्ष्या के विषय में क्या कहें, यह तो एक बड़ा ही संक्रामक रोग है। आपने देखा होगा कि किसी परिवार में यदि किसी एक व्यक्ति को खुजली हो जाय, तो वह परिवार के सभी लोगों में फैल जाती है। रोगी के पास बैठनेवालों को भी यह रोग हो जाता है। इसमें भी एक विचित्र विरोधाभास है, जो दाद से मिलता-जुलता है और वह यह कि एक ओर तो खुजलाने की तीव्र इच्छा और दूसरी ओर खुजलाने के बाद तीव्र दाह। जो लक्षण ममता में है, उसी से मिलता-जुलता लक्षण ईर्ष्या में भी है। परन्तु इसके साथ एक अनोखी बात भी है। यह ईर्ष्या की वृत्ति तमसाच्छन्न लोगों में उतनी दिखायी

नहीं देती, जितनी कि रजोगुणी तथा सतोगुणी लोगों के जीवन में दीख पड़ती है। यह सोचकर निश्चिन्त नहीं रहा जा सकता कि ईर्ष्या तो बुरे व्यक्तियों में ही होती है।

यदि आप 'मानस' को बारीकी से देखें, तो पायेंगे कि ईर्ष्या का यह रोग बुरे व्यक्तियों की अपेक्षा भले व्यक्तियों में ही कहीं अधिक दिखाई देता है। वैसे यह बात अलग है कि ईर्ष्या बुरे व्यक्तियों के जीवन में बड़े ही घातक परिणामों की सृष्टि करता है। घातक परिणाम का अभिप्राय यह है कि ईर्ष्या जीवन में जो प्रतिक्रिया उत्पन्न करती है उसमें भले तथा बुरे व्यक्ति के तारतम्य में थोड़ा भेद दिखाई दे सकता है। जो व्यक्ति बुरा है, वह ईर्ष्यालु होकर दूसरों को नीचे गिराने के लिए किसी भी सीमा तक उतरने के लिए तैयार हो जाता है और श्रेष्ठ व्यक्ति मर्यादित रहकर एक सीमा तक उस ईर्ष्या को द्वेष के रूप में प्रकट करता है। द्वेष की अग्नि में जब व्यक्ति दूसरे को जलाने की चेष्टा करे, तो वह ईर्ष्या का सबसे घातक रूप है। पर जहाँ तक ईर्ष्या के सूक्ष्म रूप का प्रश्न है, वह तो मानस के श्रेष्ठ पात्रों में भी दिखाई देता है।

देवर्षि नारद का चरित्र ही देखें। उनका चरित्र मानस-रोगों की दृष्टि से बड़ा ही अद्भुत है। उनके चरित्र में कई मनो रोगों का परिचय तथा विश्लेषण दिया गया है। नारदजी के जीवन में जो प्रतिक्रिया हुई, उसका उद्भव कहाँ से हुआ ? गहराई से देखें तो उसके मूल में ईर्ष्या ही है। मूल में ईर्ष्या न होती, तो नारद-प्रसंग की सृष्टि ही नहीं होती। यह प्रसंग ईर्ष्या से प्रारम्भ होता है और उसकी संक्रामकता बड़े ही व्यापक रूप से सामने आती है। पहले इन्द्र उससे ग्रस्त होते हैं। किसी ने गोस्वामीजी से कहा – महाराज, ये रोग-शोक तो मृत्युलोक में हैं, स्वर्ग के विषय में तो सुनते हैं कि वहाँ न रोग-शोक हैं और न जरा-मृत्यु। गोस्वामीजी ने कहा – नहीं भाई, स्वर्ग का सबसे बड़ा रोग तो ईर्ष्या ही है। विनयपत्रिका में वे लिखते हैं –

सरगहूँ मिटत न सावत ॥ १८५/४

यह सौतिया डाह, यह ईर्ष्या की वृत्ति देवताओं में बहुत होती है। इसका कारण क्या है ? ईर्ष्यालु व्यक्ति का स्वभाव ऐसा होता है कि किसी दूसरे व्यक्ति को अपने से रंचमात्र भी अधिक सम्पन्न देखकर उसके मन में एक प्रकार के दुःख की अनुभूति होती है, उद्वेग पैदा होता है और यही ईर्ष्या है।

यह ईर्ष्या ही स्वर्ग की सबसे भयावह वृत्ति है, क्योंकि मर्त्यलोक में तो इसकी दवा उपलब्ध है, परन्तु स्वर्ग में इसकी कोई दवा नहीं है। संसार में यदि हमारे मन में ईर्ष्या हो, तो हम उससे उबरने का प्रयास कर सकते हैं, परन्तु स्वर्ग में समस्या यह है

कि वहाँ इससे मुक्त होने का कोई उपाय नहीं है। जो जितने पुण्य लेकर वहाँ जाता है, उसे उसी परिमाण में भोग मिलते हैं। देवतागण एक-दूसरे के भोगों को देखते हैं और अपने से अधिक सुख भोगनेवाले के प्रति उनके मन में ईर्ष्या उत्पन्न होती है। वे यह भी जानते हैं कि वहाँ और अधिक भोग प्राप्त करने या दूसरों के भोग छीनने का कोई उपाय नहीं है, अतः ईर्ष्या स्वर्ग की सबसे बड़ी समस्या है। यह बड़ी महत्वपूर्ण बात है कि जिन लोगों के पास जितनी ही अधिक वस्तुएँ होती हैं, वे उनकी सुरक्षा के लिए उतने ही ईर्ष्यालु हो जाते हैं। जिनके पास पद, सम्पदा तथा कीर्ति होती है, उनके अन्तःकरण में निरन्तर यह सावधानी बनी रहती है कि कोई हमसे आगे न निकल जाय और हमारा पद तथा कीर्ति सुरक्षित रहे।

नारद-प्रसंग का श्रीगणेश यहीं से होता है। देवर्षि नारद हिमालय की उपत्यका में बैठकर भगवान के ध्यान में डूबे हुए हैं। बड़ा ही मनोवैज्ञानिक विश्लेषण है। ईर्ष्या का कारण कभी तो वास्तविक होता है, पर कभी कभी बिल्कुल काल्पनिक भी होता है। नारदजी के इस प्रसंग में ईर्ष्या का जो उदय हुआ, वह बिल्कुल अकारण है। मन के रोगों की सबसे बड़ी समस्या यही है। सामनेवाले व्यक्ति में यदि कोई क्रिया हो, तो हमारे मन में उसकी प्रतिक्रिया होना अत्यन्त स्वाभाविक है। परन्तु यदि हम कोई कल्पना कर लें और उस पर प्रतिक्रिया करने लग जायँ, तब तो हमने अकारण ही अपने जीवन में संकट को आमंत्रित कर लिया। एक कल्पित आशंका के निवारण हेतु यदि हम वास्तविक शस्त्र लेकर लड़ने लग जायँ, तब तो यह बड़ी विचित्र विडम्बना होगी। यदि कोई सचमुच ही लाठी लेकर आये और उससे बचने के लिए हम भी लाठी उठा लें – यह तो कोई बात हुई, परन्तु स्वप्न में यदि कोई हमारे ऊपर लाठी चला दे और जागने के बाद हम बदला लेने के लिए लाठी लेकर उसे ढूँढ़ते फिरें, तो बदला हम किससे निकालेंगे ? क्योंकि स्वप्न में लाठी चलानेवाला तो व्यक्ति का अपना मन ही होता है। ठीक इसी प्रकार यदि कोई कल्पना कर ले कि सामनेवाला मेरा अनिष्ट कर रहा है और उस पर प्रहार करने को उतावला हो जाय, तो यह क्या है ? वस्तुतः नारद ऐसा कोई कार्य नहीं कर रहे थे, जिससे इन्द्र को किसी तरह की हानि पहुँचती। वे इन्द्र से कोई प्रतिस्पर्धा नहीं कर रहे थे। परन्तु इन्द्र सोचने लगे कि नारद तपस्या क्यों कर रहे हैं ? इन्द्र को सबसे बड़ी चिन्ता यही रहती है कि कोई उनका पद न छीन ले। उन्हें अपने पद की ही चिन्ता लगी रहती है।

इस सन्दर्भ में गोस्वामीजी की एक बड़ी सुन्दर बात है। लंकाकाण्ड के प्रारम्भ में उन्होंने भगवान राम की झाँकी का वर्णन किया है। उस झाँकी के बारे में

गोस्वामीजी का विशेष पक्षपात है। लंका में सुवेल पर्वत पर लक्ष्मणजी ने कोमल पत्ते सजाकर उस पर मृगचर्म बिछा दिया है और भगवान राम उस पर आसीन हैं। प्रभु सुग्रीव की गोद में सिर रखे हुए हैं और विभीषण उनके कान के पास बैठे हैं। भगवान के दायें और बायें उनके धनुष तथा बाण रखे हुए हैं। अंगद प्रभु के दाहिने तथा हनुमान उनके बाँयें चरण को धारण किये बैठे हैं। गोस्वामीजी बड़े भावविभोर होकर इस झाँकी का वर्णन करते हैं –

एहि बिधि कृपा रूप गुन धाम रामु आसीन।
धन्य ते नर एहिं ध्यान जे रहत सदा लयलीन॥ ६/११(क)

– कृपा और गुण के धाम श्रीराम इस तरह आसीन हैं और धन्य हैं वे लोग, जो सदा इसके ध्यान में डूबे रहते हैं।

मानस में ध्यान के लिए इस तरह की अनेक झाँकियों का वर्णन गोस्वामीजी ने किया है, परन्तु इस प्रसंग के समान पक्षपात उन्होंने अन्यत्र कहीं भी नहीं किया है। अयोध्या में दशरथजी तथा कौशल्या की गोद में, विश्वामित्र के साथ जाते हुए, जनकपुरी में जानकीजी का पाणिग्रहण करते हुए – ये सभी बड़ी ही सुन्दर सुन्दर झाँकियाँ है, बड़े सुन्दर सुन्दर ध्यान हैं। परन्तु उन सबका वर्णन करने के उपरान्त जब वे लंका के ध्यान की यह झाँकी प्रस्तुत करते हैं, तो लगता है कि इस ध्यान के प्रति उनका विशेष पक्षपात है।

भगवान ने गोस्वामीजी से पूछा – तुमने तो मेरा एक-से-एक सुन्दर चित्र अंकित किया है, परन्तु वह लंकावाली झाँकी क्यों इतनी अच्छी लग गयी ? क्या कारण है इसका ? गोस्वामीजी ने कहा – अन्य झाँकियों के साथ एक समस्या है। – क्या ? – यह कि यदि दशरथजी की गोद में आपका ध्यान करना हो तो पहले अपने हृदय को अयोध्या बनाना होगा। जब तक हृदय अयोध्या न बने और उसमें महाराज दशरथ के समान दिव्य ज्ञान का उदय न हो, तब तक उस झाँकी का आनन्द कैसे मिलेगा ? जब तक विश्वामित्र के समान त्याग हमारे जीवन में न हो, जब तक हम अपने अन्तःकरण को विश्वामित्र का आश्रम न बना लें, तब तक विश्वामित्र के साथ हम आपका ध्यान कैसे करें ? और जनकपुरी तो दिव्य प्रेम की भूमि है। हमारा अन्तःकरण जब निष्काम कर्मयोग की भूमि बन जाय, तब तो हम वहाँ आपके इस दूलह रूप का साक्षात्कार करें। फिर चित्त की जब बिल्कुल निर्विकल्प अवस्था हो जाय, तभी तो हम चित्त के चित्रकूट में आपका ध्यान कर सकेंगे। परन्तु यह लंकावाली झाँकी इसलिए अच्छी है कि इसमें हृदय को लंका बनाने की

आवश्यकता नहीं है, यह तो पहले से ही बनी-बनायी है।

गोस्वामीजी ने यह भी संकेत दिया है कि इन विभिन्न झाँकियों में भगवान के आसन भी बदले हुए हैं। अयोध्या में वे सिंहासन पर, जनकपुर में वरासन पर, चित्रकूट में मिट्टी की वेदी पर और लंका में मृगचर्म पर बैठे हुए हैं। ये चार आसन हैं। इसका तात्पर्य क्या है ? ज्ञान की दृष्टि से भगवान वरासन पर बैठे हुए हैं। इस आसन का निर्माण किसने किया है ? उस काल की दुनिया के जो सबसे बड़े ज्ञानी जनकजी हैं, उनके द्वारा इस वरासन का निर्माण कराया गया है और उस आसन पर भगवान आसीन हैं। यह भगवान की ज्ञानमुद्रा है, ज्ञान के पीठ पर वे स्थित हैं।

अयोध्या में भगवान सिंहासन पर बैठते हैं। यहीं से रामराज्य का संचालन होता है। यह धर्म का आसन है, जिस पर बैठकर भगवान धर्मपूर्वक राज्य चलाते हैं। चित्रकूट में भगवान जिस वेदी पर बैठे हुए हैं, उसका निर्माण किसने किया है ? है तो वह मिट्टी की वेदी, परन्तु उसे बनाया किसने है ? गोस्वामीजी लिखते हैं –

बट छाया बेदिका बनाई। सियँ निज पानि सरोज सुहाई॥
जहाँ बैठि मुनिजन सहित नित सिय रामु सुजान।
सुनहिं कथा इतिहास सब आगम निगम पुरान॥ २/२३७

– सीताजी ने अपने हाथ से मिट्टी की उस वेदी को बनाया है और उसी पर बैठकर श्रीराम मुनियों से वेद-पुराणों की कथा श्रवण करते हैं।

जानकीजी मूर्तिमती भक्ति हैं। यह आसन भक्तिदेवी के द्वारा बनाया गया है और उस पर भगवान बैठे हैं। इसका अभिप्राय क्या है ? या तो हमारे हृदय में भक्ति के द्वारा निर्मित आसन हो, या ज्ञान के द्वारा निर्मित आसन हो अथवा धर्म तथा मर्यादा के द्वारा निर्मित आसन हो और उस आसन पर हम भगवान को आसीन करायें; परन्तु लंका में भगवान जिस आसन पर बैठे हुए हैं, उसकी व्यवस्था किसने की ? बड़ी सुन्दर बात है। लंका में भगवान जिस आसन पर भगवान बैठे हैं, उसकी व्यवस्था अन्य किसी ने नहीं की, बल्कि वे स्वयं ही उसे साथ लेते आये हैं। मारीच का वध करके प्रभु उसका चर्म साथ ले आये थे और उसी पर वे आसीन हैं।

गोस्वामीजी कहते हैं – प्रभो, अन्य सभी ध्यानों में तो आपको बुलाने के पहले आपके लिए आसन की व्यवस्था करनी पड़ेगी, परन्तु इस ध्यान में तो आसन भी आप स्वयं ही ले आते हैं। आप स्वयं इस लंका में आयें और अपना आसन भी साथ ले आयें।

इस ध्यान की एक अन्य विशेषता भी है। यह ध्यान है – बन्दरों तथा राक्षसों के बीच बैठे हुए भगवान का। बन्दर तो चंचलता के प्रतीक हैं और राक्षस तमोगुण के। कहते हैं कि भगवान का ध्यान तब होगा, जब व्यक्ति सत्त्व में स्थित हो और चंचलता को त्याग दे। परन्तु लंका की इस झाँकी को देखकर गोस्वामीजी कहते हैं – नहीं, अब मुझे भरोसा हो गया है कि जहाँ पर तमोगुण और चंचलता है, वहाँ भी आकर आप प्रकाश कर सकते हैं। चंचलता को भी आप अचंचल बना सकते हैं। इसलिए लंका की यह झाँकी मुझे अत्यन्त प्रिय है।

लंका की इस झाँकी में प्रभु ने चार व्यक्तियों को स्थान दिया है। वे हैं – सुग्रीव, विभीषण, अंगद और हनुमान। यह झाँकी गोस्वामीजी को इसलिए भी पसन्द है कि यहाँ पर भगवान ने क्रम को उलट दिया है। आपके यहाँ जब कोई पूजनीय व्यक्ति आता है, तो आप उन्हें सबसे ऊँचा स्थान देते हैं और उसके बाद बाकी लोगों को वरीयता क्रम से यथायोग्य आसन देते हैं। इस दृष्टि से देखा जाय तो भगवान ने इन चारों व्यक्तियों को जो स्थान दिया है, उसके अनुसार इनमें से सर्वश्रेष्ठ कौन है ? हनुमानजी। उसके बाद हैं अंगद। फिर विभीषण हैं। और अन्त में सबसे साधारण चरित्रवाले सुग्रीव हैं। पर इस झाँकी में भगवान ने क्रम ही उलट दिया है। सुग्रीव को तो बैठा दिया है सिरहाने और हनुमानजी को बायें चरण की ओर। अंगद और हनुमान के बीच भी चुनाव किया, तो दाहिना चरण अंगद और बाँया हनुमानजी की गोद में है। क्रम उलट दिया है। क्यों ? यह कृपा की झाँकी है न इसीलिए !

यहाँ ज्ञान, भक्ति या कर्म का पक्ष नहीं, बल्कि कृपा का पक्ष है। ज्ञान की सभा में ज्ञानियों को, भक्ति की सभा में भक्तों को, कर्म की सभा में धार्मिकों को महत्व दिया जाता है और कृपा की सभा में जो जितना ही अधिक दीन है, उसे उतना ही अधिक सम्मान दिया जाता है। सुग्रीव से बढ़कर कोई स्वार्थी नहीं और भगवान ने सबसे ऊँचा स्थान उन्हीं को दिया। जब कोई स्वार्थी व्यक्ति आता है, तो हम लोग उसे सम्मान नहीं देते, परन्तु भगवान कहते हैं कि तुम्हारा आना ही तुम्हारी बहुत बड़ी कृपा है; अब हम तुम्हें ही सबसे अधिक सँभाले रहेंगे। और लोगमें का हो न हो, परन्तु तुम्हारा सम्मान किये बिना काम नहीं चलेगा। ❑ (क्रमशः) ❑

श्री चैतन्य महाप्रभु (३७)

स्वामी सारदेशानन्द

असंख्य भक्तों से अतुल सम्मान प्राप्त होने के बावजूद इन संन्यासी के आचरण में कभी अहंकार-अभिमान दिखना तो दूर, बल्कि दूसरों के साथ और विशेषतः गुणी, ज्ञानी, तत्त्वज्ञ तथा भक्तों के साथ उनका विनयपूर्ण व्यवहार देखकर मुग्ध हो जाना पड़ता था। अपने गौरव की हानि के भय से लोग दूसरों की प्रशंसा सुनकर ईर्ष्यालु हो जाते हैं; अपने अनुगत तथा प्रशंसक कहीं दूसरे के प्रति आकृष्ट न हो जायँ, इसके लिए विशेष प्रयास करते हैं। परन्तु चैतन्यदेव का चरित्र अतीव उदार था। वे जैसे स्वयं सर्वदा अपने जाति-कुल-सम्प्रदाय-आश्रम आदि की उपेक्षा करते हुए, सभी सम्प्रदायों के साधु-संन्यासी-भक्त-सज्जनों का यथायोग्य स्वागत-सम्मान करते थे; दूसरे लोग भी ठीक वैसा ही करें, इसके लिए भी वे सदा प्रयत्नशील रहा करते थे। सामने उपस्थित तत्त्वज्ञानी भक्त की उच्च प्रशंसा करते हुए वे सबका चित्त उनकी ओर आकृष्ट कर देते थे। यहाँ तक कि कभी कभी वे जिज्ञासु व्यक्ति को स्वयं उपदेश न देकर, उचित लगा तो किसी अन्य सुयोग्य व्यक्ति के पास भेज देते थे। यहाँ पर हम एक ऐसी ही एक घटना का उल्लेख कर रहे हैं।

प्रद्युम्न मिश्र नामक एक विद्वान सदाचारी भक्त ब्राह्मण चैतन्यदेव से भक्तिमार्ग के उच्च तत्त्व तथा साधना-प्रणाली के विषय में जानकारी प्राप्त करने के लिए विशेष आग्रह करते रहते थे। मिश्र को उपयुक्त अधिकारी देखकर महाप्रभु बड़े प्रसन्न हुए। उन्होंने रामानन्द राय के नाम का उल्लेख करते हुए उनके भक्तितत्त्व के विषय में विशद ज्ञान का परिचय दिया और उन्हीं के पास जाकर इन विषयों की शिक्षा ग्रहण करने को कहा। और कोई चारा न देख, मिश्र चैतन्यदेव की आज्ञानुसार राय से मिलने तथा वार्तालाप करने एक दिन उनके घर जा पहुँचे। राय तब अपने भवन से अनुपस्थित थे। नौकर से पूछताछ करने पर मिश्र को पता चला कि राय उस समय निर्जन उद्यान-भवन में बैठे दो किशोरी देवदासियों को नृत्य, गीत तथा अभिनय की शिक्षा दे रहे हैं। भृत्य ने उन्हें सम्मानपूर्वक बैठने को आसन प्रदान किया और हाथ जोड़कर बोला कि राय शीघ्र आ रहे हैं, थोड़ी प्रतीक्षा करने पर उनसे भेंट हो सकेगी। मिश्र प्रतीक्षा में बैठ तो गये, परन्तु देवदासियों को नृत्य-गीत आदि की

शिक्षा देने की बात सुनकर वे मन-ही-मन लाल-पीले भी हो रहे थे। उनकी समझ में नहीं आता था कि ऐसे आदमी के पास चैतन्यदेव ने मुझे क्यों भेजा है!

थोड़ी देर बाद राय आ पहुँचे और भक्तिपूर्वक मिश्र की चरण-वन्दना करने के बाद उनके आगमन का अभिप्राय पूछने लगे। मिश्र ने उनके समक्ष अपने हृदय का भाव व्यक्त नहीं किया। अन्य विषयों पर कुछ काल बातचीत करने के उपरान्त वे लौट आये। मिश्र के अन्तर में इस बात को लेकर बड़ा ही खेद था। बाद में चैतन्यदेव से भेंट होने पर उन्होंने राय के साथ उनकी मुलाकात का विवरण सुनने की इच्छा व्यक्त की। इस पर मिश्र ने विमर्षपूर्वक कहा, "राय देवदासियों को नृत्य-गीत सिखाने में व्यस्त थे, अतः उनके साथ चर्चा नहीं हो सकी। और फिर ऐसे व्यक्ति से तत्त्वज्ञान सुनने की मुझे इच्छा भी नहीं हुई।" चैतन्यदेव मिश्र के अन्तर का भाव समझ गये और उन्हें राय के उच्च भाव से परिचित कराते हुए बोले, "राय स्वयं पर दासीभाव का आरोप करके देवदासियों के प्रति सेव्य-भाव रखते हैं। भक्त रामानन्द स्वरचित नाटक की श्री जगन्नाथजी के सम्मुख ठीक ठीक अभिनय कराने के लिए देवदासियों को (श्री जगन्नाथ की प्रेयसी-ज्ञान से) सेव्य मानकर स्वयं दासीभाव से उन्हें अभिनय, नृत्य, गीत, संवाद आदि की शिक्षा देते हैं। तत्त्वज्ञानी रामानन्द के निर्विकार चित्त में इससे बिन्दुमात्र भी चांचल्य का उदय नहीं होता। ऐसे व्यक्ति संसार में दुर्लभ हैं। ये लोग ही प्रेमभक्ति के सच्चे आचार्य हैं। मैं स्वयं भी राय से भक्तितत्त्व का श्रवण करता हूँ। यदि तुम्हें प्रेमभक्ति का तत्त्व जानने का वास्तविक आग्रह हो, तो तुम पुनः उन्हीं के पास जाओ और 'मैंने भेजा है' ऐसा बताना।" मुक्तकण्ठ से रामानन्द की प्रशंसा करके के पश्चात् उपस्थित भक्तों की ओर उन्मुख होकर चैतन्यदेव कहने लगे, "मैं तो संन्यासी हूँ, स्वयं को विरक्त मानता हूँ; परन्तु दर्शन तो दूर, यदि मैं नारी का नाम भी सुन लेता हूँ, तो मेरे तन-मन में विकार आ जाता है। ऐसा कौन व्यक्ति है जो नारी का दर्शन कर स्थिरचित्त रह सके! अब आप लोग रामानन्द राय की बात सुनें। यह बात इतनी अद्भुत है कि कहने योग्य नहीं है। एक तो वे देवदासियाँ हैं और द्वितीयतः सुन्दर तरुणियाँ हैं; उनके समस्त अंगों का शृंगार आप स्वयं ही करते हैं। बड़े आश्चर्य की बात यह है कि तरुणियों के स्पर्श से भी उनका शरीर-मन काष्ठ-पाषाण के समान निर्विकार रहता है। एकमात्र रामानन्द का ही इस अवस्था में अधिकार है और इससे पता चलता है कि उन्हें अप्राकृत देह[१]

१. साधना के फलस्वरूप प्राकृत (बाह्य) शरीर से आत्मबुद्धि दूर हो जाती है और सिद्ध भक्त को उसके भाव के अनुसार अप्राकृत (चिन्मय) देह का अनुभव हुआ करता है।

की प्राप्ति हो गयी है। उनके मन का भाव एकमात्र वे ही जानते हैं, दूसरा कोई भी उसे जानने के योग्य नहीं है।''

चैतन्यदेव के मुख से राय की अत्युच्च प्रशंसा सुनकर प्रद्युम्न मिश्र के मन में विस्मय का उदय हुआ। इस प्रकार मिश्र के चित्त में राय की महिमा दृढ़ रूप से अंकित करने के उपरान्त महाप्रभु ने भागवत से शुकदेव की निम्नलिखित वाणी उद्धृत की –

विक्रीडितं व्रजवधूभिरिदं च विष्णोः
श्रद्धान्वितोऽनुशृणुयादथ वर्णयेद् यः।
भक्तिं परां भगवति प्रतिलभ्य कामं
हृद्रोगमाश्वपहिनोत्यचिरेण धीरः॥ (१०/३३/४०)

– भगवान विष्णु ने व्रजांगनाओं के साथ जो यह रासक्रीड़ा की थी, उसका जो व्यक्ति श्रद्धा-भक्ति के साथ श्रवण या वर्णन करता है, उसकी भगवान के चरणों में पराभक्ति हो जाती है और वह धीर पुरुष शीघ्र ही काम-विकार रूपी अपने हृदयरोग से छुटकारा पा लेता है।

राय के अन्तर का भाव तथा उनकी उच्च अवस्था से अवगत होकर प्रद्युम्न मिश्र उनके प्रति श्रद्धान्वित हुए और चैतन्यदेव के निर्देशानुसार और एक दिन उनके घर जा पहुँचे। मिश्र ने उस दिन बड़े सबेरे ही पहुँचकर राय के उद्यान में जाने के पूर्व ही उनसे मुलाकात की और चैतन्यदेव का सन्दर्भ देते हुए अपने आने का अभिप्राय बताया। राय ने उनका यथोचित सम्मान करते हुए उन्हें परम प्रीति के साथ बैठाया, परन्तु स्वयं शूद्र होकर एक ब्राह्मण को तत्त्वज्ञान सुनाने को वे राजी नहीं हुए। बाद में जब मिश्र ने अतिशय आग्रहपूर्वक बारम्बार अनुरोध किया, तब वे चैतन्यदेव की आज्ञा पालन करने तथा ब्राह्मण को सन्तुष्ट करने की आशा में मिश्र की अभिलाषा के अनुसार प्रेमभक्ति का तत्त्व बताने लगे।

उनके मुख से भक्तितत्त्व, भगवत्तत्त्व, राधाकृष्ण-लीला तथा रागमार्ग का सम्यक परिचय पाकर मिश्र के आनन्द की सीमा न रही। भगवत्प्रसंग तथा तत्त्वचर्चा करते हुए राय और मिश्र दोनों ही इतने आत्मविस्मृत हो गये कि उनके देशकाल का बोध तक लुप्त हो गया। काफी काल बाद प्रसंग समाप्त हो जाने पर मिश्र ने स्वयं को कृतार्थ माना और चैतन्यदेव की अनुकम्पा का स्मरण करके मन-ही-मन बारम्बार उनके चरणों में प्रणाम किया। उसके उपरान्त उन्होंने राय के प्रति अपनी आन्तरिक कृतज्ञता व्यक्त करते हुए उनसे विदा ली। बाद में चैतन्यदेव के साथ भेंट होने पर राय

की प्रशंसा करते हुए मिश्र बोले, "प्रभो, कृष्ण-कथामृत के समुद्र में डुबाकर आपने मुझे कृतार्थ कर दिया। रामानन्द राय के बारे में तो कुछ कहना ही असम्भव है। कृष्णभक्ति-रसमय राय मनुष्य तो हैं ही नहीं !"

इस प्रकार चैतन्यदेव सर्वदा भक्त-महात्माओं का गुणगान करते रहते थे और जैसे स्वयं उनके सद्गुणों तथा माधुर्यरस का आस्वादन करते थे, वैसे ही दूसरों को भी इसमें उत्साहित करते थे। उन लोगों के प्रति केवल मौखिक सम्मान व्यक्त करके ही वे सन्तुष्ट नहीं हो जाते थे, बल्कि सदा उनकी प्राणपण से सेवा करके उन्हें सुख-स्वाच्छन्द्य पहुँचाने का भी प्रयास करते थे। परन्तु वे इस नश्वर देह एवं इसके क्षणभंगुर सुखभोगों के हेतु रूप-रस आदि को कभी भी संसार का सार-सर्वस्व नहीं मानते थे। उन नित्य, सत्य, अविनाशी, आनन्दमय नन्दनन्दन की कृपा से सब लोग चिर आनन्द के अधिकारी हों, इसी के लिए विशेष प्रयत्न करते थे और केवल इसी उद्देश्य-सिद्धि के सहायक के रूप में जीवन-धारण, भरण-पोषण तथा आहार की आवश्यकता अनुभव करते थे। उनके निकट तथा आसपास सर्वदा अनेक संन्यासी, ब्रह्मचारी, त्यागी, वैरागी, भक्त, गृहस्थ तथा सज्जन लोग निवास किया करते थे। उन सबकी सुख-सुविधा की ओर महाप्रभु की विशेष दृष्टि रहा करती थी। श्रीमत परमानन्द, ब्रह्मानन्द आदि संन्यासीगण; दामोदर स्वरूप, गदाधर, जगदानन्द आदि ब्रह्मचारीगण; हरिदास, रघुनाथ आदि त्यागी भक्तगण; सर्वदा साथ रहनेवाले गोविन्द, काशीश्वर आदि सेवकगण; सामयिक रूप से आकर निवास करनेवाले रूप, सनातन आदि तथा रथयात्रा तथा अन्य समय आनेवाली भक्त-मण्डली – इन सभी की सुख-सुविधा के प्रति चैतन्यदेव का अतीव आग्रह तथा प्रयास परिलक्षित होता था। इस विषय में बहुत-सी बातें पाठकों को बतायी जा चुकी हैं। यहाँ पर हम उनके सहज स्नेह को प्रदर्शित करनेवाली और भी दो-एक घटनाओं का उल्लेख करना आवश्यक समझते हैं।

अपने जीवन के अन्तिम काल में चैतन्यदेव जब रात के समय भगवद्विरह का भाव स्फुरित होने पर शय्या त्यागकर उठ जाते और उन्हें बाह्य देशकाल की चेतना नहीं रहती, उस समय भक्तगण बड़े यत्नपूर्वक उनके शरीर की रक्षा किया करते थे। उन दिनों शंकर नामक एक सेवक रात में महाप्रभु के चरणों के पास ही सोते थे, ताकि उनके उठने का प्रयास करते ही आहट मिल जाय। किसी किसी दिन रात के अन्तिम प्रहर में नींद खुल जाने पर चैतन्यदेव देखते कि शंकर नंगे-बदन सोये हुए हैं और भोर की ठण्डी हवा लगने से उनके शरीर के रोवों में सिहरन हो रही है। यह

देखते ही उनका अन्तर स्नेह से अभिभूत हो उठता। जिस प्रकार माँ वात्सल्यवश अपने पुत्र को आँचल से ढँक लेती है, ठीक उसी भाव से ये प्रेमिक संन्यासी भी सेवक का शरीर अपने वस्त्र से आवृत्त कर देते। कभी कभी महाप्रभु के करकमलों के स्पर्श से स्वल्पनिद्र शंकर जाग जाते और इस अद्‌भुत स्नेह का अमुभव करते हुए प्रेमाश्रु बहाने लगते।

चैतन्यदेव के प्रधान सेवक गोविन्द सर्वदा छाया के समान उनका अनुसरण करते रहते थे। किस उपाय से प्रभु के देह की रक्षा हो और उन्हें आराम मिले, इसी प्रयास में लगे रहना गोविन्द के लिए ध्यान, ज्ञान आदि सब कुछ था। दोपहर को भिक्षा ग्रहण करने के पश्चात जब चैतन्यदेव विश्राम करते,उस समय उनके हाथ-पाँव तथा कमर दबाकर उन्हें आराम पहुँचाना गोविन्द का नित्यकर्म था। सदा-सर्वदा नृत्य, गीत, कीर्तन तथा भावावेग के फलस्वरूप उनके शरीर में जो क्लान्ति तथा अवसाद उत्पन्न होता, सुदक्ष सेवक गोविन्द उसे दूर करने में तत्पर रहते।

एक दिन इसी प्रकार संकीर्तन के अवसर पर काफी देर तक नृत्य, गीत, कीर्तन तथा भाववेश के फलस्वरूप चैतन्यदेव का शरीर अत्यधिक थक गया, अतः उस दिन भिक्षा के बाद अपनी कुटिया में जाकर द्वार के सम्मुख ही बैठकर विश्राम करते हुए वे तन्द्राभिभूत होकर वहीं लेट गये और अपने आसन तक नहीं जा सके। गोविन्द जब सेवा करने आये, तो यह दृश्य देखकर विस्मित रह गये और मृदु स्वर में उनसे आसन पर जाकर भलीभाँति सोने को कहने लगे, परन्तु महाप्रभु से उन्हें कोई उत्तर नहीं मिला। हार कर गोविन्द उनसे भीतर आने के लिए रास्ता देने का अनुरोध करने लगे, परन्तु इसका भी उन्होंने कोई जवाब नहीं दिया। उनके शरीर की इस गहरी थकान को देखकर गोविन्द का अन्तर दुःख से परिपूर्ण हो उठा और कुछ कहकर महाप्रभु को कष्ट देने का उन्हें साहस नहीं हुआ, परन्तु सेवा के द्वारा उनकी क्लान्ति दूर करने का कोई उपाय भी उन्हें नहीं सूझ रहा था। द्वार के पास ही चैतन्यदेव का पूत शरीर शायित होने के कारण कुटिया के भीतर जाने का कोई रास्ता न था। गोविन्द इस पर अत्यन्त व्यग्र हुए। अन्य कोई उपाय न देख आखिरकार महाप्रभु के शरीर को एक गमछे से ढकने के उपरान्त उन्हें लाँघकर वे भीतर जा पहुँचे। भीतर जाकर गोविन्द बड़े मनोयोगपूर्वक उनकी पदसेवा आदि करने लगे। थोड़ी देर में ही देह की थकान दूर हो जाने से चैतन्यदेव को गहरी निद्रा आ गयी। प्रभु के शरीर को आराम मिलता देखकर गोविन्द के भी प्राण शीतल हुए और वे आनन्दमग्न होकर कुटिया में ही एक किनारे चुपचाप बैठे रहे।

चैतन्यदेव की निद्रा सदैव ही अल्पकालिक होती थी। थोड़ी देर बाद उनकी नींद खुली और गोविन्द को इस प्रकार कुटिया में बैठे देखकर उन्होंने व्यग्र होकर पूछा, "तुम्हारा खाना हुआ क्या ?" गोविन्द ने सिर हिलाकर संकेत से बताया कि अभी तक नहीं हुआ है। महाप्रभु इस पर बड़े ही व्यथित हुए और इतनी देर तक न खाने का कारण पूछते हुए बोले, "इतनी देर तक बिना खाये इस प्रकार बैठे बैठे कष्ट उठाने का क्या कारण है ?" गोविन्द पहले तो मौन रहे, परन्तु चैतन्यदेव के उद्विग्न होकर बारम्बार पूछने पर उन्होंने हाथ जोड़कर विनयपूर्वक निवेदन किया, "आप दरवाजे पर सोये हुए थे, अतः बाहर निकलने को रास्ता न था। इसीलिए थोड़ी-सी प्रतीक्षा कर रहा था, परन्तु न खाने के कारण मुझे जरा भी कष्ट नहीं हुआ।" महाप्रभु सब कुछ समझकर अत्यन्त खेदपूर्वक बोले, "जैसे भीतर आये थे, वैसे ही बाहर क्यों नहीं चले गये ?" गोविन्द ने प्रभु की सेवा के लिए उनका लंघन किया था, परन्तु अपनी सुविधा के लिए वे भला ऐसा किस प्रकार करते ? वे कुछ भी उत्तर दिये बिना चुप रहे; लेकिन चैतन्यदेव उनके अन्तर का भाव समझ गये और उनकी सेवा, निष्ठा तथा हार्दिक भक्ति-प्रेम देखकर बड़े प्रसन्न हुए। पर साथ ही गोविन्द के काफी देर तक बिना खाये बैठे रहने के कारण उनके अन्तर में बड़ा दुःख भी हो रहा था और महाप्रभु ने भविष्य में कभी इस प्रकार उपवास के द्वारा शरीर को कष्ट पहुँचाकर सेवा करने से उन्हें मना कर दिया। उनकी सेवा में गोविन्द किसी भी प्रकार के कष्ट की परवाह नहीं करते थे, बल्कि प्रभु की सेवा करके ही उनके प्राण तृप्त होते थे। आज पुनः स्नेहपूर्ण मृदु-मधुर झिड़की सुनकर उनके अन्तर में और भी आनन्द हुआ। सेवकों की सुख-सुविधा की ओर उनकी ऐसी ही तीक्ष्ण दृष्टि सदैव देखने में आती थी। उनके चरित्र में एक ओर तो जहाँ संन्यास के कठोर नियम तथा निष्ठा को देखकर हम विस्मित रह जाते है, वहीं दूसरी ओर श्रद्धा-भक्ति, प्रीति, स्नेह, वात्सल्य आदि मानव-हृदय की सुकोमल वृत्तियों का भी चरम विकास देखकर हमें चकित रह जाना पड़ता है। अपनी गर्भधारिणी माता, दीक्षागुरु[२], शिक्षागुरु[३], आचार्यगुरु[४] तथा परमानन्द, ब्रह्मानन्द, नित्यानन्द, अद्वैताचार्य तथा अन्य वयोज्येष्ठ पूजनीय लोगों के साथ श्रद्धापूर्ण व्यवहार; स्वरूप दामोदर, रामानन्द राय, हरिदास, सार्वभौम, श्रीवास, गदाधर, जगदानन्द आदि के प्रति प्रेमपूर्ण आचरण; और रूप, सनातन, रघुनाथ, गोविन्द, काशीश्वर, शंकर आदि अन्तरंग

२. इष्टमन्त्र प्रदाता को दीक्षागुरु कहते हैं। ३. साधन-भजन प्रणाली विषयक उपदेष्टा को शिक्षागुरु कहते हैं।
४. उपनयन तथा संन्यास संस्कारों के सम्पादक को आचार्यगुरु कहते हैं।

सेवकों के प्रति उनके स्नेह-वात्सल्य भाव का हमें यथेष्ट परिचय मिल चुका है। अब उनकी साधुभक्ति तथा साधुसेवा का चूड़ान्त उदाहरण पाठकों के सम्मुख प्रस्तुत किया जायगा।

हरिदास ठाकुर अर्थात यवन हरिदास पुरी में आने के बाद से एक दिन के लिए भी कहीं बाहर नहीं गये। उन्होंने दीर्घकाल तक पुरी में चैतन्यदेव के निवासस्थान के समीप रहकर, उन्हीं के निर्देशानुसार हरिनाम-संकीर्तन करते हुए कालयापन किया था। चैतन्यदेव स्वयं ही प्रतिदिन उनकी कुटिया में जाकर उनका हालचाल जान लेते, मन्दिर से प्राप्त अच्छे चावल का प्रसाद लाकर उन्हें दे जाते और अपने सेवक के हाथों नित्य उनके लिए महाप्रसाद भिजवा देते। हरिदास ने काफी काल तक पुरी में निवास किया था और उनकी आयु भी काफी हो चुकी थी। परन्तु वृद्ध हो जाने के बावजूद वे अपने अभ्यास के अनुसार प्रतिदिन नियमित रूप से तीन लाख हरिनाम का जप पूरा करते थे। उनके जीवन के अन्तिम काल में एक दिन गोविन्द ने प्रसाद पहुँचाते समय देखा कि हरिदास लेटकर धीरे धीरे हरिनाम जप रहे हैं। गोविन्द ने जब उनसे उठकर प्रसाद ग्रहण कर लेने का अनुरोध किया, तो भी वे उठे नहीं और प्रसाद भी नहीं ग्रहण किया। मस्तक से स्पर्श कराने के बाद उन्होंने गोविन्द से उसे वापस ले जाने को कहा। गोविन्द के बारम्बार अनुरोध करने पर भी हरिदास प्रसाद ग्रहण करने को राजी नहीं हुए। गोविन्द दुखी चित्त के साथ लौट आये और उन्होंने चैतन्यदेव को पूरी घटना बता दी। सुनकर उन्हें भी बड़ा विस्मय हुआ। वे व्यग्रता के साथ उपस्थित भक्तों को लिए हरिदास की कुटिया में जा पहुँचे और उनकी शारीरिक कुशलता पूछने लगे। हरिदास अत्यन्त धीरे धीरे विनयपूर्वक बोले, "शरीर तो ठीक है, परन्तु मन-बुद्धि ठीक नहीं है।" चैतन्यदेव ने हँसते हुए पूछा, "मन-बुद्धि को क्या हुआ है ?" हरिदास ने खेद के साथ उत्तर दिया, "आज जप की संख्या पूरी नहीं हुई।" महाप्रभु हरिदास को समझाते हुए बोले, "अब तो आपकी काफी उम्र हो गयी है, शरीर भी दुर्बल तथा अक्षम हो गया है। अब पहले के समान संख्या पूरी करने की आवश्यकता नहीं; इस आयु में तो जितना भी हो जाय, वही यथेष्ट है।"

चैतन्यदेव वहाँ समवेत भक्तों के सम्मुख हरिदास की नामनिष्ठा की खूब प्रशंसा करने लगे। इस पर हरिदास को बड़ा संकोच होने लगा और वे हाथ जोड़कर बोले, "प्रभो, हीन जाति में जन्म ग्रहण करने के कारण मेरा शरीर निन्द्य है और अधम पामर मैं नीच कर्मों में रत रहा हूँ, परन्तु आपने मेरे समान अस्पृश्य तथा अदर्शनीय को भी अंगीकार करके मानो रौरव नरक से उठाकर वैकुण्ठ में स्थान दे दिया है।

आप स्वतंत्र ईश्वर हैं, इच्छामय हैं और अपनी इच्छानुसार जगत को नचाते रहते हैं। आपने कृपा करके मुझे भी बहुत नचाया है, म्लेच्छ होने पर भी मुझे ब्राह्मण का श्राद्ध खिलाया है।[५] अब अनेक दिनों से मेरे मन में एक और आकांक्षा का उदित हो रही है। मुझे ऐसा लग रहा है कि आप शीघ्र ही लीला-संवरण करनेवाले हैं और प्रभो, अपनी वह लीला मुझे मत दिखायें। ऐसा कीजिए कि मेरा शरीर आपसे पहले ही चला जाय। मेरी इच्छा है कि हृदय में आपके पादपद्मों को धारण करके, नेत्रों से आपके कृष्णचैतन्य नाम का उच्चारण करते हुए मेरे प्राण निकल जायँ। हे दयामय, आप कृपा करके मेरी यह अर्ज स्वीकार करें। मेरा यह हीन शरीर आपके सम्मुख पड़ा है, मेरी कामना को सिद्ध करना अब आप पर ही निर्भर है।''

हरिदास के अन्तर की अभिलाषा को समझकर चैतन्यदेव ने उनका प्रेमालिंगन किया और उनकी प्रार्थना के अनुसार अगले दिन प्रातःकाल पुनः आकर दर्शन देने का वचन देकर विदा हुए। हरिदास की शारीरिक अवस्था अच्छी नहीं प्रतीत हो रही थी, अतः चैतन्यदेव अगले दिन सबेरे ही जगन्नाथजी का दर्शन करने के उपरान्त कुछ विशिष्ट भक्तों को साथ लेकर शीघ्रतापूर्वक उनकी कुटिया में आ पहुँचे। हरिदास की इच्छानुसार उन्हें बीच में बैठाकर हरिकीर्तन आरम्भ हुआ। स्वरूप दामोदर तथा सार्वभौम आदि विशिष्ट भक्तगण ही वहाँ एकत्र हुए थे। महाप्रभु उन लोगों को साथ लिए परम आनन्दपूर्वक हरिदास के चारों ओर घूमते हुए नृत्य-गीत करने लगे। इस प्रकार कुछ काल कीर्तन करने के पश्चात हरिदास की प्रार्थना पर चैतन्यदेव उनके सम्मुख बैठ गये और हरिदास ने अपने आँसुओं से उनके चरणों को पखारकर अपने सीने से लगा लिया। हरिदास के नेत्र महाप्रभु के कमलानन पर स्थिर हो गये और 'श्रीकृष्णचैतन्य' इस सुमधुर नाम का उच्चारण करते ही उनके प्राणपखेरू ने देहपिंजर का परित्याग कर दिया।

श्रीकृष्ण के सम्मुख भीष्म पितामह के समान ही चैतन्यदेव के सम्मुख हरिदास का इच्छामृत्यु-वरण देखकर भक्तों के आनन्द की सीमा न रही। वे लोग उल्लसित अन्तर के साथ उच्च स्वर में भगवन्नाम का कीर्तन करते हुए नृत्य करने लगे। चैतन्यदेव ने स्वयं भी हरिदास की देह को गोद में उठाकर नर्तन आरम्भ कर दिया। बाद में उच्च स्वर में कीर्तन के साथ वह पूत शरीर वहन करके समुद्रतट पर ले जाया गया। हरिदास की काया को समुद्रस्नान कराने के बाद महाप्रभु ने कहा, ''समुद्र अब से महातीर्थ हो गया।'' तदुपरान्त उस पूत देह को वस्त्र-माल्य-चन्दन आदि से

---

५. अद्वैताचार्य ने अपने पिता के वार्षिक एकोद्दिष्ट श्राद्ध का भोज्यपात्र खाने के लिए हरिदास को प्रदान किया था।

सजाकर समुद्र के किनारे बालुका-गर्भ में समाहित कर दिया गया। चैतन्यदेव ने स्वयं ही अग्रणी होकर इन सभी कृत्यों का सुसम्पादन किया और अपने हाथों ही हरिदास के पूत शरीर को बालू से ढँककर उन्होंने भक्तों की सहायता से समाधि के ऊपर एक वेदी का निर्माण किया और उसके चारों ओर घेरा लगवा दिया। इसके बाद वे भक्तों के साथ समुद्र में स्नान तथा उस परम पवित्र समाधिक्षेत्र[६] की प्रदक्षिणा करने के उपरान्त, कीर्तन करते हुए मन्दिर की ओर अग्रसर हुए और सिंहद्वार पर जा पहुँचे। चैतन्यदेव ने मन्दिर में प्रवेश किया और 'आनन्दबाजार' में गये। वहाँ महाप्रसाद की दुकानों के समक्ष वे अपना आँचल फैलाकर हरिदास ठाकुर के महोत्सव (भण्डारे) के लिए महाप्रसाद की भिक्षा माँगने लगे।

अपनी दुकानों के सम्मुख चैतन्यदेव को इस प्रकार खड़े देखकर दुकानदारों ने स्वयं को धन्य माना और आनन्दविह्वल होकर वे अपनी दुकानों का सारा प्रसाद उन्हें देने को उद्यत हुए। दामोदर स्वरूप यह अद्भुत घटना देख रहे थे और इसका गुरुत्व समझकर वे आगे बढ़े और बीच में खड़े हो गये। स्वरूप ने स्वयं ही प्रसाद की भिक्षा करने का उत्तरदायित्व लेकर चैतन्यदेव को कुटिया में भेज दिया। तदुपरान्त प्रत्येक दुकानदार से थोड़ी थोड़ी भिक्षा लेने के बाद, सब तरह के प्रसाद वे दो लोगों के ढोने लायक मात्रा में संग्रह करके ले आये। रामानन्द के भाई वाणीनाथ भी बहुत-सा प्रसाद ले आये। काशी मिश्र ने भी काफी परिमाण में प्रसाद भेजा था।

इस प्रकार हरिदास ठाकुर के महोत्सव पर अत्यधिक मात्रा में प्रसाद की व्यवस्था हो जाने से चैतन्यदेव का चित्त अत्यन्त प्रफुल्ल था। सभी भक्तों को बैठाकर वे स्वयं ही चार सहकारियों के साथ परोसने लगे और हर एक के पत्तल में बहुत-सा प्रसाद देने लगे। स्वरूप फिर अग्रसर हुए और बहुत अनुनय-विनय के द्वारा उन्हें रोककर स्वयं ही परोसने लगे। भक्तों का भोजन देखने के लिए चैतन्यदेव उनके सम्मुख ही खड़े रहे। परन्तु उन्हें न खाते देखकर भक्तों को भी अपने मुख में प्रसाद डालने की इच्छा नहीं हो रही थी। काशी मिश्र ने उन्हें उनके संगी संन्यासियों के साथ भिक्षा ग्रहण करने का आमंत्रण दे रखा था। वे भी प्रसाद लेकर आ पहुँचे और उनके आग्रह पर महाप्रभु भी पुरी, भारती आदि संन्यासियों के साथ बैठकर भिक्षा ग्रहण करने लगे। तब समस्त वैष्णवजन ने भी भोजन आरम्भ किया। सबको भरपेट प्रसाद खिलाया गया। भोजन हो जाने के बाद सबने आचमन किया और तदुपरान्त चैतन्यदेव ने सबको सचन्दन माला से विभूषित किया। ❑(क्रमशः)❑

६. हरिदास ठाकुर का समाधिस्थल अब भी पुरी का एक प्रसिद्ध दर्शनीय स्थान है।

एक विनम्र आवेदन

रामकृष्ण आश्रम
किसनपुर, देहरादून - २४८ ००९

श्रीरामकृष्ण का सार्वभौमिक मन्दिर

उत्तरी भारत के अपनी भारत-परिक्रमा के दौरान स्वामी विवेकानन्द का हिमालय की गोद में स्थित देहरादून में भी शुभागमन हुआ था। १९१६ ई. में देहरादून शहर से ६ की. मी. उत्तर में मसूरी के मार्ग पर मनोरम प्राकृतिक दृश्यावली के बीच रामकृष्ण मठ/मिशन (बेलूड़ मठ) की एक शाखा की स्थापित हुई, जो पिछले अस्सी वर्षों से साधु-भक्तों के द्वारा निर्जन साधना के एक केन्द्र के रूप में उपयोग में आ रही है। इसमें स्थानीय जनता की सेवा हेतु एक होम्योपैथी तथा एलोपैथी दातव्य चिकित्सालय के साथ ही एक पाठागर भी कार्यरत है।

आश्रम में स्थित छोटे-से मन्दिर को केन्द्र बनाकर प्रतिदिन पूजा, प्रार्थना, भजन आदि के साथ ही विभिन्न धार्मिक अनुष्ठान और विशेष तिथियों पर रामनाम-संकीर्तन और श्रीरामकृष्ण, माँ श्री सारदादेवी तथा स्वामी विवेकानन्द के जन्मोत्सव भी मनाये जाते हैं।

इसी बीच एक सार्वभौमिक प्रार्थनागृह बनाने हेतु आश्रम से लगी हुई एक जमीन उत्तर प्रदेश सरकार के अनुग्रह से प्राप्त हुई। इसी परिकल्पना को साकार रूप देने के लिए १९८८ ई, में वहाँ श्रीरामकृष्ण के मन्दिर का निर्माण करने की योजना बनायी गयी और १८ नवम्बर को जगद्धात्री पूजा के दिन संघ के ग्यारहवें अध्यक्ष श्रीमत् स्वामी गम्भीरानन्द जी महाराज ने मन्दिर की आधारशिला रखी। इसके बाद श्रीरामकृष्ण के एक भावानुरागी भक्त के आन्तरिक आग्रह तथा आर्थिक सहायता से शीघ्र ही मन्दिर के निर्माण का कार्य भी आरम्भ हो गया। परन्तु इस मन्दिर को पूरा करने के लिए और भी ५० लाख रुपयों की आवश्यकता है।

आप सबसे हार्दिक अनुरोध है कि इस कार्य में यथासम्भव योगदान करके इस निर्माण को पूरा करने में सहयता करें। दान की राशि एकाउण्ट पेयी चेक, ड्राफ्ट या मनिआर्डर के द्वारा 'Ramakrishna Ashrama, Dehra Dun' – के नाम से भेजें। आपका बहुमूल्य दान कृतज्ञता के साथ स्वीकृत तथा सूचित किया जायगा। यह दान भारतीय आयकर अधिनियम ८०जी के अन्तर्गत आयकर से मुक्त होगा।

स्वामी आत्मविदानन्द
अध्यक्ष

विवरण के लिए सम्पर्क करें –
President, Ramakrishna Ashrama, Kishanpur,
Dehra Dun – 248 009; Phone : 0135-684355

भागवत का सन्देश

स्वामी भूतेशानन्द

(कई वर्ष पूर्व हमारे आश्रम के सभागार में उपस्थित भक्तों के समक्ष पूज्यपाद महाराज ने अंग्रेजी में 'The Message of Shrimad Bhagavatam' पर एक सुललित व्याख्यान दिया और ब्रह्मलीन स्वामी आत्मानन्द जी ने उसका तात्कालिक अनुवाद किया था। प्रस्तुत लेख के लिये उसी का टेप से अनुलेखन किया है, ब्रह्मचारी सुधीरचैतन्य ने, जो सम्प्रति इसी आश्रम के अन्तेवासी हैं। – सं.)

आप सभी जानते हैं कि वेदों के गूढ़ तत्त्वों को सरल भाषा में समझाने के लिए ही पौराणिक साहित्य का जन्म हुआ था। वेदों की भाषा आर्ष है, आसानी से समझ में नहीं आती। उनमें बहुत से शब्द ऐसे हैं, जिनका अर्थ लगाना आज अत्यन्त कठिन है। वेद व्यास ने गूढ़ भाषा में उपलब्ध वैदिक साहित्य का क्रमशः विभाजन किया। बाद में व्याकरण का जन्म हुआ और उसके द्वारा इसकी भाषा को समझने के प्रयास हुए। बाद में एक ऐसी भाषा का निर्माण हुआ, जिसे हम संस्कृत कहते हैं। संस्कृत का अर्थ है – जिसे परिशोधित किया गया हो। वैदिक साहित्य भिन्न भिन्न ऋषियों की अनुभूतियों से प्रसूत है और उनमें कोई श्रृंखला नहीं है। वेदव्यास ऐसे प्रथम व्यक्ति थे, जिन्होंने इन अनुभूतियों का संकलन किया और ऋक्, यजुष्, साम तथा अथर्व – नाम से चार शाखाओं में बाँट दिया। फिर ऐसा भी कहते हैं कि वेदों के दार्शनिक पक्ष की भलीभाँति विवेचना करने के लिए उन्होंने सूत्रों की रचना भी की, जिन्हें ब्रह्मसूत्र के नाम से जाना जाता है। इसके अतिरिक्त उन्होंने महाभारत तथा समस्त पुराणों की रचना की ताकि वेदों का गूढ़ मर्म इनके माध्यम से जनता के समक्ष रखा जा सके। इस प्रकार वेदों के तत्त्व जनसामान्य को समझाने के लिए विभिन्न पुराणों की रचना हुई, जिनमें कथाओं, कहानियों तथा आख्यायिकाओं के माध्यम से उन गूढ़ बातों को प्रस्तुत किया गया और इस प्रकार इस विशाल पौराणिक साहित्य का जन्म हुआ।

कुछ लोग यह भी कहते हैं कि एक व्यक्ति के लिए इतना कुछ लिख पाना सम्भव नहीं है। एक व्यक्ति इतने सारे पुराणों की रचना भला कैसे कर सकता है ? परन्तु वास्तविकता चाहे जो भी हो, मान्यता तो यही है कि वेदव्यास ने इन सबकी रचना की। उन्होंने सम्पूर्ण वैदिक साहित्य को चार भागों में विभाजित किया, ब्रह्मसूत्र की रचना की और साथ ही महाभारत तथा पुराण भी लिखे।

श्रीमद्भागवत भी पुराणों के अन्तर्गत आता है। भागवत का माहात्म्य पढ़ने पर ज्ञात होता है कि वेदव्यास किस प्रयोजन की सिद्धि के लिए भागवत की रचना करते हैं। उन्होंने अनेक ग्रन्थों का निर्माण किया, परन्तु इसके बावजूद उनके हृदय में शान्ति नहीं आयी। वे सोचते हैं कि मुझे क्या करना चाहिए। उन्हें स्वयं कुछ समझ में नहीं आ रहा है। बड़े खिन्न रहते हैं, उदास रहते हैं। ऐसे समय में उनकी नारदजी से भेंट होती है। उन्होंने अपनी समस्या नारद के समक्ष रखी और सब कुछ सुनने के बाद देवर्षि नारद ने कहा, "महामते, मैं आपकी खिन्नता का कारण समझ रहा हूँ। जहाँ आपने पाण्डित्यपूर्ण ग्रन्थों की रचना की है, वहीं आपने ऐसा कोई ग्रन्थ नहीं लिखा जिसमें भगवान की लीला का गायन हुआ हो। मेरी सलाह है कि आप भगवान की लीला का गायन कीजिए।" और इसके बाद वेदव्यास श्रीमद्भागवत की रचना करते हैं, जिसमें भगवान की लीलाओं का गायन है।

वैसे तो स्वरूपतः सभी पुराण एक ही हैं और भिन्न भिन्न प्रकार से एक ही बात का वर्णन करते हैं, परन्तु भागवत पुराण की अपनी एक अलग विशेषता है और वह यह कि इसमें विशेष रूप से भगवान की लीलाओं का गायन हुआ है। भागवत शब्द का तात्पर्य भी यही है – जो भगवान का हो उसे भागवत कहते हैं। अतः जो भगवान से सम्बन्धित है, वह हमें भागवत में मिलता है।

किसी भी दृष्टि से भागवत को देखें, उसके भीतर अपूर्वता के दर्शन होते हैं। चाहे वह श्लोकों का कवित्व हो, चाहे भाषा हो और चाहे उदात्त भाव हों – सबका इसमें अत्यन्त असाधारण भाषा में निरूपण हुआ है। भाषा तो कवित्वपूर्ण है ही, छन्द भी अपूर्व हैं। तो किसी भी दृष्टि से क्यों न देखें, यह ग्रन्थ हमारे मन पर एक अमिट छाप छोड़ जाता है। यही कारण है कि हम चाहे भारत के किसी भी कोने में क्यों न चले जायँ, लोग भागवत सुनने को आतुर रहते हैं। भले ही लोग संस्कृत के पण्डित न हों, परन्तु विभिन्न भाषाओं में जो इसके अनुवाद हुए हैं, उन्हीं के माध्यम से वे भागवत का रसास्वादन करते हैं। उत्तर या दक्षिण – आप भारत के किसी भी अंचल में चले जायँ, लोगों में यही उत्कण्ठा देखने को मिलती है कि हम किसी प्रकार भागवत को सुनकर अपना जीवन धन्य कर लें। ऐसा अद्भुत है यह ग्रन्थ!

जीवन के सारे पक्षों को लेकर जितनी भी महत्व की बातें हैं, उन्हें इसके माध्यम से हमारे समक्ष रखा गया है। वैसे तो भागवत में अद्वैत ज्ञान की भी बातें हैं। उसमें वेदान्त का तत्त्व प्रतिपादित दिखता है। परन्तु उसमें भक्ति की बात भी कही गयी है।

कर्म का भी विवेचन हुआ है। और योग का भी वेदव्यास ने निरूपण किया है। तो भागवत एक ऐसा ग्रन्थ है जो सबके लिए, सबकी आवश्यकता के अनुसार भगवान के सम्बन्ध में उपदेश प्रस्तुत करता है। यदि कोई बड़ा पण्डित हो, तो वह इसके श्लोकों को पढ़कर कवित्व का आनन्द ले ले, छन्दों का विवेचन करते हुए अपना पाण्डित्य सार्थक कर ले। और यदि वह सामान्य जन है, यदि उसे श्लोक की भाषा समझ में नहीं आती, तो वह अपनी भाषा में पढ़कर भगवान की लीलाओं का रस ले ले। इसीलिए कहा गया है कि विद्या जो है, वह भागवती होती है। **विद्या भागवतावती** – विद्या की जो चरम सीमा है, वही भागवत है। भागवत को देखने से पता चलता है कि विद्या का चरमोत्कर्ष क्या हो सकता है!

मेरा विषय है – भागवत का सन्देश। इस सन्देश को कैसे रखा जाय? भागवत में भगवान की ओर जाने के भिन्न भिन्न मार्ग प्रदर्शित किये गये हैं और इसके सन्देश को अल्प शब्दों में कहना कठिन है। तथापि आइये हम देखने का प्रयास करें कि भागवत का उद्गीरण किन परिस्थितियों में हुआ है। कैसी पारिपार्श्विक परिस्थितियों के बीच भागवत का गायन हुआ।

शुकदेव इसके गायक हैं। उन्हीं के द्वारा भागवत का प्रवचन हुआ। आप जानते हैं कि शुकदेव अत्यन्त ज्ञानी के रूप में ही पैदा हुए थे। वे देह में रहते तो थे, परन्तु उन्हें देहबोध नहीं था। देहबोध के वे परे चले गये थे और आप पढ़ते हैं कि वे उन्मत्त की अवस्था में रास्ते पर चले जा रहे हैं, शरीर का भान नहीं है। उन्हें देखकर रास्ते के छोटे छोटे बच्चे पत्थर फेंकते हैं, परन्तु जो व्यक्ति देह के ऊपर उठा हुआ है, उसे यह सब किसी प्रकार प्रभावित नहीं कर सकता। वे चलकर वहाँ पहुँचते हैं, जहाँ कि परीक्षित जी प्रायोपवेशन करने को बैठे हुए हैं। राजा परीक्षित को पता है कि सात दिनों के बाद उनकी मृत्यु हो जायगी।

तो परीक्षित वहाँ बैठकर चिन्तन कर रहे थे। महाग्नि जल रही थी। बहुत से सन्त, महात्मा, ऋषि-मुनि वहाँ पर आकर उपस्थित हैं और परीक्षित वहाँ तैयारी करके बैठे हैं कि सात दिनों बाद मृत्यु आकर मुझे ले जायगी। आध्यात्मिक स्पन्दनों से भरपूर कैसा सुन्दर वातावरण है! और शुकदेव मुनि वहाँ सीधे चले आते हैं। मानो भगवान स्वयं ही उन्हें वहाँ आकृष्ट करके ले जाते हैं। उनके मन में कोई योजना तो थी नहीं और किसी ने उन्हें बताया भी नहीं था कि वहाँ ऐसा कुछ होनेवाला है, परन्तु भगवान की योजना से असम्भव भी सम्भव हो जाता है।

शुकदेव के वहाँ पहुँचने पर उन्हें देखकर सभी उठकर खड़े हो जाते हैं। महाराज परीक्षित को बड़ा आनन्द होता है। वे उनके चरणों में प्रणत होते हैं, अर्घ्य देते हैं और पूजा करने के बाद हाथ जोड़कर विनयपूर्वक कहते हैं, "भगवन् ! आपको तो ईश्वर ने ही हमारे लिए भेज दिया है। मैं मृत्यु की प्रतीक्षा कर रहा हूँ। सात दिनों बाद मैं काल-कवलित हो जाऊँगा। मैं ऐसा कोई मार्ग चाहता हूँ, जिससे कि अपना कल्याण साधित कर सकूँ। परन्तु इस समय तो कोई अनुष्ठान करने के लिए समय नहीं है। सात दिन में भला कौन-सा अनुष्ठान सम्पन्न हो सकता है ! कोई ज्ञान भी प्राप्त करना चाहूँ, तो उसे भी अर्जित नहीं कर सकता। अतः मैं आपसे पूछता हूँ कि सात दिनों बाद मैं जो मृत्यु के द्वारा ले जाया जाऊँगा, इन सात दिनों के दौरान मेरे लिए क्या करणीय है, जिससे कि भगवान के चरण प्राप्त हो सकें और मैं मृत्यु के भय से सदा के लिए छुटकारा पा जाऊँ ? ऐसा कोई उपाय मुझे बताइये। परीक्षित के इस प्रश्न के उत्तर में शुकदेव ने जो कुछ कहा, उसी को हम भागवत के नाम से जानते हैं।

तो भागवत का सन्देश क्या है ? जो व्यक्ति यह जानता है कि मेरी मृत्यु निश्चित है, भले ही वह दस वर्ष बाद हो या बीस वर्ष बाद, ऐसा व्यक्ति भगवान के तत्त्व को जान सकता है – यही भागवत का सन्देश है।

वैसे तो हम सभी जानते हैं कि एक-न-एक दिन हमें मरना है, परन्तु बोध कहाँ रहता है ? हमें तो ऐसा लगता है कि हम अनन्त काल तक जीयेंगे। हम सभी को मरते हुए देखते हैं। भूतकाल का कोई व्यक्ति नहीं है, जो अब तक जीवित हो। सभी मर चुके हैं। परन्तु फिर भी हमारी जिजीविषा बनी रहती है और लगता है कि हम नहीं मरेंगे। तो यहाँ पर इस पारिपार्श्विक परिस्थिति के द्वारा यह प्रदर्शित हुआ है कि जैसे परीक्षित को बोध है कि मैं सात दिन के बाद मर जाऊँगा, वैसे ही यदि मनुष्य के मन में आ जाय, तो भागवत-तत्त्व की उसे उपलब्धि हो जाती है। कहा गया है –

गृहीतमिव केशेषु मृत्युना धर्ममाचरेत्।

मृत्यु ने अब हमारा केश पकड़ लिया है और पकड़कर ले जा रहा है – ऐसे अनुभव के साथ हमें धर्म का आचरण करना चाहिए। जब इस प्रकार मृत्यु की सम्भावना हमारे जीवन में आती है, तभी यह भागवत-धर्म हमारे जीवन में उतरता है। इस सन्देश का जो रूप भागवत हमें बताना चाहता है, उसी प्रकार की व्याकुलता हमारे जीवन में आनी चाहिए। जब मनुष्य को यह ज्ञात हो जाय कि सात दिनों के बाद मैं मरनेवाला हूँ, तो क्या कोई भोग उसे सुहा सकता है !

इस प्रसंग से यही शिक्षा मिलती है और श्रीरामकृष्ण देव ने भी यही बात हमारे समक्ष रखी है। उन्होंने भगवान की प्राप्ति की। हम प्रत्यक्ष देखते हैं कि उनके जीवन में ईश्वर को पाने के लिए कितनी व्याकुलता है और एक दृष्टान्त के माध्यम से भी वे स्पष्ट कर देते हैं। एक शिष्य ने गुरु से पूछा, "महाराज, मुझे भगवान के दर्शन कब मिलेंगे ?" गुरु शिष्य को एक सरोवर में स्नान कराने ले जाते हैं। जब शिष्य ने डुबकी लगायी, तो गुरु ने उसका सिर पानी के भीतर डुबाये रखा। शिष्य छटपटाने लगा। गुरु ने देखा कि अब अधिक देर कर डुबाये रखूँ, तो शायद इसके प्राण ही निकल जायँ। अतः वे उसे छोड़ देते हैं। शिष्य हड़बड़ा कर बाहर निकला। उसके थोड़ा स्वस्थ होने पर गुरु ने पूछा, "बेटे, तुझे कैसा लग रहा था ?" शिष्य ने कहा, "महाराज, एक बार सांस लेने के लिए जी छटपटा रहा था। ऐसा लगता था कि थोड़ी-सी हवा मिल जाय।" गुरु बोले, "बस बेटा, जब तुझे भगवान के लिए वैसी ही व्याकुलता होगी, तो तुझे भगवान के दर्शन हो जायेंगे। यही तेरे प्रश्न का उत्तर है।" तो श्रीरामकृष्ण इस दृष्टान्त के माध्यम से यही बताते हैं कि जो व्यक्ति उसके लिए व्याकुल है, उसी को यह धर्मतत्त्व मिलेगा। और भागवत धर्म भी यही कहता है। भागवत तो पुकार कर कहता है कि जो व्यक्ति भगवान को छोड़कर और कुछ भी नहीं चाहता और जो केवल भगवान के चरणों को ही चाहता है, ऐसा व्यक्ति भागवत-धर्म का अधिकारी है। और ऐसा व्यक्ति ही अपने जीवन में शान्ति पा सकता है। यही भागवत का सन्देश है।

यह तो इस सन्देश का एक पक्ष हुआ। दूसरी ओर हम देखते हैं कि इसमें भिन्न भिन्न प्रकार से गोपियों के अनुराग की तीव्रता का भी वर्णन हुआ है। कितनी सुन्दर सुन्दर घटनाएँ इसमें वर्णित हुई हैं। श्रीकृष्ण गौएँ चराकर लौट रहे हैं। गोधूलि का समय है। एक गोपी टकटकी लगाए कन्हैया को देख रही है। और उस समय निगोड़ी पलकें झपक जाती हैं, जिससे उनके दर्शन में बाधा आती है। तो इस पर अनुयोग के स्वर में वह कहती है – काश, ये पलकें न होतीं, तो हम कन्हैया को एकटक देख सकतीं। यह कैसी व्यग्रता है ! एक क्षण के लिए भी भगवान के दर्शन से वंचित रह जाना ! यहाँ हृदय की कैसी आकुलता व्यक्त होती है ! तो भागवत का सन्देश यह है कि जीवन में ऐसी व्याकुलता आने पर भगवान के दर्शन होते हैं।

भागवत से एक अन्य बात का भी बोध होता है कि यह सब कुछ का त्याग करा देता है। जब भगवान के लिए इतना तीव्र अनुराग हो, तो भौतिक सम्पदा का त्याग

तो अपने आप ही हो जाता है। श्रीरामकृष्ण के जीवन में यह त्याग हमें दिखाई देता है। कैसा त्याग था उनका ! और किसके लिए त्याग ? ईश्वर को पाने के लिए। त्याग तभी सम्भव होता है, जब हमारा मन ईश्वर के साथ जुड़ जाता है। भगवान से जुड़ने पर ही वह संसार का त्याग कर सकता है। अतः भागवत-धर्म कहता है कि ईश्वर के साथ जुड़ो, ताकि यह संसार छूट जाय और यह बात हम गोपियों के जीवन में देखते हैं। उनकी उत्कट भावना तो हमें तब दिखायी देती है, जब भगवान वंशीनाद करते हैं तो उसकी ध्वनि सुनकर गोपियाँ अपने प्रियतम से मिलने को भागती हैं। कोई रोटी बना रही थी, वह रोटी को ही छोड़कर भागी। कोई दूध दूह रही थी, वह उसे वहीं छोड़कर चल देती है। बड़ा ही सुन्दर वर्णन है। जब ईश्वर की यह पुकार हमारे हृदय में ध्वनित होती है, तब यदि संसार का कोई कर्म हमें रोके, तो हम उसे छोड़कर भगवान की ओर दौड़ जायँ। भागवत का कहना है कि ऐसी तीव्रता यदि हमारे जीवन में आती है, तो हमें भगवान अवश्य मिलेंगे।

एक गोपी जा नहीं सकी। घरवालों ने उसे एक कमरे में बन्द कर दिया था। अब वह क्या करे ! प्रियतम से मिले बिना वह रह नहीं सकती। अब मिलन में एकमात्र बाधा इस शरीर की है। उस गोपी ने शरीर को ही त्याग दिया और जाकर अपने प्रियतम के साथ मिलित हुई। कितनी अद्भुत भावना है ! शरीर ही मनुष्य को सर्वाधिक प्रिय होता है और उस परमप्रिय वस्तु को भी यदि कोई भगवान के लिए छोड़ सके, तो वह धन्य है। और यही भागवत का सन्देश है।

ऐसी कितनी ही बातें हैं। यहाँ सारी बातें कहने का न तो समय है और न ही आवश्यकता। कुछ उदाहरण आपके समक्ष रखे गये, ताकि इनके माध्यम से हम भागवत के सन्देश की किंचित धारणा कर सकें। तो सार रूप में यह कहा जा सकता है कि भागवत में भगवान को पाने के लिए इसी उत्कटता और सर्वस्व त्याग का निदर्शन कराया गया है। संसार में ऐसी कोई वस्तु नहीं है, जिसे पकड़े रखकर भगवान के पास जाया जा सके। भगवान को पाने के लिए सब कुछ त्यागना होगा – यही सन्देश भागवत हमारे समक्ष रखता है।

आत्म-निरीक्षण

स्वामी सत्यरूपानन्द

किसी प्रकार की प्रगति या उन्नति के लिए यह आवश्यक है कि हम यह ठीक ठीक जान लें कि हम कहाँ खड़े हैं ? हमारी स्थिति क्या है ? हम कहाँ अवस्थित हैं ?

इन तथ्यों के ज्ञान के बिना किसी भी प्रकार की प्रगति या उन्नति सम्भव नहीं है। अपने सम्बन्ध में इन तथ्यों के ज्ञान के बिना हमारा जीवन मेलों में गोल घूमनेवाले उन झूलों के समान हो जाता है, जो दिन-पर-दिन घण्टों घूमता रहता है, किन्तु पहुँचता कहीं नहीं, वहीं का वहीं रह जाता है।

अपनी स्थिति तथा अवस्थिति को जानने का एकमात्र उपाय है – आत्म-निरीक्षण – अपने आपको देखना। बाहर से प्राप्त होनेवाला सारा ज्ञान-विज्ञान हमें बाहर की ओर से ही प्राप्त होता है। बाहर से प्राप्त होनेवाला यह ज्ञान हमें अपने से बाहर के संसार का ज्ञान तो देता है, किन्तु हमारे भीतर के संसार के सम्बन्ध में हमें कुछ भी नहीं बता पाता। इसलिए बाहर के संसार के सम्बन्ध में बहुत-कुछ जानकर भी हम स्वयं अपने विषय में एकदम अनभिज्ञ, अज्ञानी रह जाते हैं। और यह सभी जानते हैं कि हमारे सभी दुःखों का कारण हमारा अपने विषय में अज्ञान ही है।

जीवन की उन्नति और प्रगति के लिए स्वयं के सम्बन्ध में इस अज्ञान को दूर करना आवश्यक है।

कैसे दूर होगा यह अज्ञान ?

आत्म-निरीक्षण से।

आत्म-निरीक्षण कहाँ से और कैसे प्रारम्भ करें ?

आत्म-निरीक्षण आज, अभी और इसी क्षण से प्रारम्भ किया जा सकता है।

कैसे प्रारम्भ करें ?

अवकाश के क्षणों में थोड़ा समय निकालिए। अपने कमरे में, घर के किसी कोने में या बाहर के किसी एकान्त स्थान में आराम से शान्त तथा शिथिल होकर बैठ जाइये। आँखें बन्द कर लीजिए तथा अपने मन में उठनेवाले विचारों को उसी प्रकार देखते रहिए, जैसे आप टी.वी. या सिनेमा देखते हैं। केवल द्रष्टा होकर। थोड़ी देर अपनी कल्पना-शक्ति का उपयोग कीजिए। उसकी सहायता लीजिए।

अच्छे-बुरे जो भी विचार आयें, उन्हें निष्पक्ष भाव से देखते रहिए। उन विचारों पर "विचार" न कीजिए। केवल द्रष्टा होकर, निरपेक्ष द्रष्टा होकर देखते रहिए। उन पर नियंत्रण करने का प्रयत्न न कीजिए।

आप पायेंगे कि पहले-पहल विचारों का तूफान आपके मन में उठ रहा है। ऐसे ऐसे विचार आयेंगे, जिनकी आपने कभी कल्पना भी न की होगी। आप आश्चर्य में पड़ जायेंगे कि आपके मन में ऐसे भी विचार थे।

उससे घबराइये मत और अपना अभ्यास चालू रखिए। निष्ठा के साथ चालू रखिए। अभ्यास चलता रहेगा, तो विचारों का तूफान धीरे धीरे कम होने लगेगा। मन तनावमुक्त होने लगेगा। आप हल्कापन महसूस करेंगे।

ऐसी अवस्था में आने पर आप आत्म-निरीक्षण के लिए उचित अधिकारी हो जाते हैं। अब आप अपने मन में उठनेवाले विचारों को निष्पक्ष होकर देख सकेंगे। अपनी इच्छाओं को पहचान सकेंगे।

अब वह समय आ गया है कि आपको अपने विचारों पर "विचार" करना है कि कौन-से विचार उचित तथा उपयोगी हैं और कौन-से अनुचित तथा व्यर्थ।

उसी प्रकार आपको अपनी इच्छाओं की भी जाँच करनी होगी। उन्हें भी परखना होगा। कौन-सी इच्छा सदिच्छा है, जो जीवन की उन्नति तथा विकास में सहायक है और कौन-सी इच्छा असत् है, जो जीवन के विकास में बाधक है।

इस प्रकार का विवेचन ही विवेक कहा जाता है। विवेक के द्वारा ही हम श्रेष्ठ विचार तथा सदिच्छाओं का चयन करने में समर्थ होते हैं। वही विचार श्रेष्ठ और वही इच्छा सत् होती है, जो नैतिक दृष्टि से शुद्ध तथा आध्यात्मिक दृष्टि से वरेण्य होती है।

अपने विचारों तथा इच्छाओं सम्बन्धी यह ज्ञान आत्म-निरीक्षण से भिन्न अन्य किसी उपाय द्वारा प्राप्त नहीं किया जा सकता। आत्म-निरीक्षण ही हमें अपने स्वभाव का ज्ञान देता है। अपने स्वभाव को जानकर ही हम जीवन में सफल हो सकते हैं। अपने स्वभाव को जानना, अपने गुण-दोषों को जानना है।आत्म-सुधार और आत्म-विकास के लिए अपने गुण-दोषों को जानना नितान्त आवश्यक है। इनको जानकर ही हम अपने स्वभाव से दोषों को दूर कर गुणों का अर्जन कर सकते हैं। अपनी कमियों और दुर्बलताओं को जानकर ही हम उनको दूर करने में समर्थ होकर उसकी क्षतिपूर्ति कर आत्म-सुधार के द्वारा अपने व्यक्तित्व का समुचित

विकास कर सकते हैं। और यह बात हम सभी लोग जानते हैं कि व्यक्तित्व के समुचित विकास के बिना कोई भी व्यक्ति जीवन में सफल नहीं हो सकता। जीवन की सफलता का अर्थ ही है – अपने व्यक्तित्व का समुचित एवं सर्वांगीण विकास।

आत्म-निरीक्षण और आत्म-सुधार सफल एवं शान्तिपूर्ण जीवन की कुंजी है। आत्म-निरीक्षण चरित्र-गठन का तंत्र है। अतः किसी भी अन्य तकनीकी ज्ञान के समान आत्म-निरीक्षण को भी धैर्य एवं परिश्रमपूर्वक सीखना पड़ता है। अध्यवसाय के साथ दीर्घकाल तक अभ्यास करना पड़ता है। किन्तु परिश्रम और अभ्यास के द्वारा एक बार सध जाने पर यह हमारे चरित्र का अंग बन जाता है तथा सदैव सजग प्रहरी के समान सावधानीपूर्वक दोषों और दुर्गुणों से हमारी रक्षा कर जीवन-लक्ष्य की ओर हमें अग्रसर करता रहता है। अतः जितने शीघ्र हो सके, हमें जीवन में आत्म-निरीक्षण का अभ्यास बना लेना चाहिए।

प्रकाशन विषयक विवरण

(फार्म ४ रूल ८ के अनुसार)

१ प्रकाशन का स्थान	-	रायपुर
२ प्रकाशन की नियतकालिकता	-	त्रैमासिक
३-४. मुद्रक एवं प्रकाशक	-	स्वामी सत्यरूपानन्द
५. सम्पादक	-	स्वामी विदेहात्मानन्द
राष्ट्रीयता	-	भारतीय
पता	-	रामकृष्ण मिशन, रायपुर
स्वत्वाधिकारी	-	रामकृष्ण मिशन, बेलुड़मठ

स्वामी भूतेशानन्द, स्वामी रंगनाथानन्द, स्वामी गहनानन्द, स्वामी आत्मस्थानन्द, स्वामी गीतानन्द, स्वामी प्रभानन्द, स्वामी हिरण्मयानन्द, स्वामी सत्यघनानन्द, स्वामी वन्दनानन्द, स्वामी तत्वबोधानन्द, स्वामी स्मरणानन्द, स्वामी मुमुक्षानन्द, स्वामी वागीशानन्द, स्वामी प्रमेयानन्द, स्वामी भजनानन्द, स्वामी गौतमानन्द, स्वामी शिवमयानन्द, स्वामी आत्मारामानन्द, स्वामी सुहितानन्द, स्वामी श्रीकरानन्द।

मैं स्वामी सत्यरूपानन्द घोषित करता हूँ कि ऊपर दिये गये विवरण मेरी जानकारी और विश्वास के अनुसार सत्य हैं।

(हस्ताक्षर)

स्वामी सत्यरूपानन्द

श्रीरामकृष्ण के प्रति

जितेन्द्र कुमार तिवारी

पुरानी बस्ती, कोरबा (म.प्र.)

सफल साधना से जिनकी, उपजे असंख्य अनमोल रतन।
परमहंस श्रीरामकृष्ण के चरणों में शत बार नमन॥

भारत पर जब संकट आता, कुंठा का बादल लहराता,
महापुरुष तब आते भू पर, जन-जन नई प्रेरणा पाता;
'यदा-यदा' गीता-वाणी को, गुंजित करता रहा पवन।
परमहंस श्रीरामकृष्ण के चरणों में शत बार नमन॥

था गुलाम भारत जब रोता, और अस्मिता अपनी खोता,
आशीर्वाद जगन्माता की, पाकर अब यह रहा न सोता;
करुणामयी सारदा-माँ के रहे सुमगंल कृपानयन।
परमहंस श्रीरामकृष्ण के चरणों में शत बार नमन॥

युवावर्ग में जागृति आई, व्यक्त हुई अनुपम तरुणाई,
भारत की गौरव-गाथा, स्वामीजी ने जग में फैलाई;
'उठो-जगो' के वेदमंत्र से गुंजित होने लगा गगन।
परमहंस श्रीरामकृष्ण के चरणों में शत बार नमन॥

कर्मठ वेदान्त : स्वामी विवेकानन्द

रामधारी सिंह 'दिनकर'

(राष्ट्रकवि दिनकर द्वारा लिखित 'संस्कृति के चार अध्याय' से गृहीत प्रस्तुत लेख स्वामीजी के विषय में लिखी गयी श्रेष्ठ रचनाओं में एक है. इसकी गुणवत्ता को देखते हुए 'विवेक-ज्योति' के जनवरी-मार्च, १९६३ के प्रवेशाक से प्रस्तुत है इसका पुनर्मुद्रण। - सं०)

गंगा के भागीरथ

परमहंस रामकृष्ण ने साधनापूर्वक धर्म की जो अनुभूतियाँ प्राप्त की थीं, स्वामी विवेकानन्द ने उनसे व्यावहारिक सिद्धान्त निकाले। रामकृष्ण आध्यात्मिकता के अद्‌भुत यंत्र थे। उनकी दृष्टि समाज या व्यक्ति के सुधार पर नहीं थी, न वे इस्लाम या ईसाइयत के आक्रमणों से हिन्दुत्व की रक्षा करने को आतुर थे। देश में बौद्धिकता के साथ नास्तिकता का प्रचार बढ़ता जा रहा था, किन्तु, रामकृष्ण को इसकी भी चिन्ता नहीं थी। वस्तुतः संसार से उनको कोई प्रयोजन नहीं था। वे आत्मानन्द की खोज में थे एवं आनन्द का सबसे सुगम मार्ग उन्हें यह दिखाई पड़ा था कि अपने आपको वे काली की कृपा के भरोसे छोड़ दें। इनका सारा जीवन प्रकृति के निश्छल पुत्र का जीवन था। वे अदृश्य सत्ता में एक ऐसा यंत्र बन गये थे जिसमें कालिमा नहीं थी, मैल नहीं था, अतएव, जिसके भीतर से अदृश्य अपनी लीला का चमत्कार अनायास दिखा सकता था। बहुत दिनों से हिन्दुओं का विश्वास रहा है कि हृदय के पूर्ण रूप से निर्मल हो जाने पर, मन से स्वार्थ की सारी गन्ध निकल जाने पर एवं चित्त में छल की छाया भी नहीं रहने पर मनुष्य की सहज वृत्ति, पूर्ण रूप से जाग्रत हो जाती है एवं तब धर्म की अनुभूतियाँ उसे भीतर आप-से-आप जागने लगती हैं। रामकृष्ण के जीवन में यह सत्य साकार हो उठा था। अतएव, धर्म की सारी उपलब्धियाँ उन्हें आप-से-आप प्राप्त हो गयीं। उन उपलब्धियों के प्रकाश में विवेकानन्द ने भारत और समग्र विश्व की समस्याओं पर विचार किया एवं उनके जो समाधान उन्होंने उपस्थित किये वे, असल में, रामकृष्ण के ही दिये हुए समाधान हैं। रामकृष्ण और विवेकानन्द एक ही जीवन के दो अंश हैं, एक ही सत्य के दो पक्ष हैं। रामकृष्ण अनुभूति थे, विवेकानन्द उसकी व्याख्या बनकर आये। रामकृष्ण दर्शन थे, विवेकानन्द ने उनके क्रिया-पक्ष का आख्यान किया। स्वामी निर्वेदानन्द ने रामकृष्ण को हिन्दू-धर्म की गंगा कहा है, जो वैयक्तिक कमण्डलु में बन्द थी। विवेकानन्द इस गंगा के भागीरथ हुए और उन्होंने देवसरिता को रामकृष्ण के कमण्डलु से निकालकर सारे विश्व में फैला दिया।

तन से राजसी, मन से जिज्ञासु

स्वामी विवेकानन्द का घर का नाम नरेन्द्रनाथ दत्त था। वे सन् १८६३ ई० की १२ जनवरी को कलकत्ते में एक क्षत्रिय परिवार में पैदा हुए थे। उन्होंने कॉलेज में शिक्षा पायी थी और बड़ी योग्यता के साथ बी० ए० पास किया था। अपने छात्र-जीवन में वे उन हिन्दू युवकों के साथी थे, जो यूरोप के उदार एवं विवेकशील चिन्तकों की विचारधारा पर अनुरक्त थे तथा जो ईश्वरीय सत्ता एवं धर्म को शंका से देखते थे। विवेकानन्द का आदर्श उस समय यूरोप था एवं यूरोपीय उद्दामता को वे पुरुष का सबसे तेजस्वी लक्षण मानते थे।

नरेन्द्रनाथ का शरीर काफी विशाल और मांसपेशियाँ सुपुष्ट थीं। वे कुश्ती, बॉक्सिंग, दौड़, घुड़दौड़ और तैरना – सभी के प्रेमी और सबमें भलीभाँति दक्ष थे। वे संगीत के प्रेमी और तबला बजाने में उस्ताद थे। उस प्रकार, विवेकानन्द में वे सभी गुण प्रचुर मात्रा में विद्यमान थे, जो रामकृष्ण को नहीं मिले थे। रामकृष्ण का शरीर कोमल और कमजोर था। उनके स्वभाव में स्त्रीत्व का अंश अधिक था एवं, आरम्भ से ही, उनमें सात्विकता बहुत उच्च कोटि की थी। इसके विपरीत, विवेकानन्द का शरीर पुष्ट तथा स्वभाव पौरुष के वेगों से उच्छल एवं उद्दाम था तथा, आरम्भ से ही, उनके भीतर राजसिकता के भाव थे। विद्या की दृष्टि से भी देखें तो रामकृष्ण, करीब-करीब, अपढ़ व्यक्ति थे तथा उनकी सारी पूँजी उनकी सहज वृत्ति थी, जबकि नरेन्द्रनाथ संस्कृत और अँगरेजी के उद्भट विद्वान् एवं यूरोप के तार्किकों एवं दार्शनिकों की विद्याओं में परम निष्णात थे। उनमें सहज वृत्ति के बदले तार्किकता और विवेकशीलता की ज्वाला प्रचण्ड रूप से जल रही थी। उनमें यूरोपीय सभ्यता की वह प्रवृत्ति अत्यन्त प्रखर थी, जो निरन्तर खोज और सतत अनुसन्धान में लगी रहती है; जो किसी भी कथन को प्रमाण नहीं मानकर प्रत्येक विषय का विश्लेषण स्वयमेव करना चाहती है तथा जो सत्य की खोज में विवेक और बुद्धि को छोड़कर और किसी वस्तु का सहारा नहीं लेती।

नरेन्द्रनाथ हर्बर्ट स्पेंसर और जॉन स्टुअर्ट मिल के प्रेमी थे। वे शेली के सर्वात्मवाद और वर्डस्वर्थ की दार्शनिकता के प्रेमी एवं हीगेल के वस्तु-निष्ठात्मक आदर्शवाद पर अनुरक्त थे। फ्रांसीसी राज्यक्रान्ति का प्रभाव, उस समय, साहित्य के माध्यम से भारत में जोरों से फैल रहा था एवं नरेन्द्रनाथ भी उसके स्वतन्त्रता, समानता और भ्रातृत्व के सिद्धान्त-त्रय में बड़े उत्साह से विश्वास करते थे। यूरोपीय संस्कारों का उनमें पूरा जोर था, और कहते हैं, अपने छात्र-जीवन में वे केवल

शंकावादी ही नहीं, प्रचण्ड नास्तिक के समान बातें करते थे। किन्तु, बौद्धिकता के इन समस्त उद्वेगों के बीच उनके भीतर वह जिज्ञासा काम कर रही थी, जा पैगम्बरों में उठा करती है, अवतारों और धर्म-संस्थापकों में जगा करती है, जो सभी प्रश्नों के ऊपर उठकर, यह समझना चाहती है कि सृष्टि है क्या ? जीव सान्त है या अनन्त ? जन्म के पूर्व हम कहाँ थे ? मृत्यु के पश्चात् हम कहाँ जायेंगे ? सृष्टि कोई आकस्मिक घटना है या इसके भीतर कोई नियम काम कर रहा है ? यदि हाँ, तो उस नियम का निर्माता कौन है ? यही जिज्ञासा आरम्भ में उन्हें ब्राह्मसमाज की ओर ले गयी और वहाँ से निराश होने पर यही जिज्ञासा उन्हें दक्षिणेश्वर ले आयी, जहाँ रामकृष्ण अपनी वैयक्तिक साधना में लीन थे, किन्तु, जहाँ से यह संवाद सारे बंगाल में फैल रहा था कि भारत में धर्म फिर से जीता-जागता रूप लेकर अवतरित हुआ है, जिसके प्रमाण रामकृष्ण हैं।

श्रद्धा और बुद्धि का मिलन

रामकृष्ण धर्म के उन रूपों के प्रतिनिधि हुए, जिन पर ईसाई प्रचारकों का कोप था तथा जो बुद्धिवादी हिन्दुओं की भी समझ में नहीं आते थे। किन्तु, नरेन्द्रनाथ बुद्धिवाद की प्रतिमा थे। वे यूरोपीय विचारधाराओं के मूर्तिमान रूप थे एवं उनके भीतर वे सारे संस्कार वर्तमान थे, जिनके कारण अँगरेजी पढ़े-लिखे हिन्दू हिन्दू-धर्म की आलोचना करने लगे थे। वस्तुतः, नरेन्द्रनाथ जब रामकृष्ण की शरण गये, तब, असल में, नवीन भारत ही प्राचीन भारत की शरण गया था अथवा यूरोप भारत के सामने आया था। रामकृष्ण और नरेन्द्रनाथ का मिलन श्रद्धा और बुद्धि का मिलन था, रहस्यवाद और बुद्धिवाद का आलिंगन था। इन दो मूर्तियों में से एक तो पुराणों के सत्यों से लिपटी हुई थी, धर्म के बाह्याचारों को भी सत्य मानकर उन्हें कायम रखना चाहती थी तथा प्राचीन भारत की सभी साधनाओं का आदर करना चाहती थी; और दूसरी तर्क से उच्छल थी एवं धर्म के बाह्य बन्धनों को तोड़कर वह प्राचीनता के बाहर निकल जाने को बेचैन थी। रामकृष्ण ने नरेन्द्रनाथ से कुछ भी नहीं लिया, हाँ, अपनी साधना का तेज और अपनी अदृश्यदर्शिनी दृष्टि को नरेन्द्रनाथ में उतारकर उन्होंने उन्हें विवेकानन्द अवश्य बना दिया। कदाचित्, रामकृष्ण और विवेकानन्द के मिलन में पूर्वी और पश्चिमी जगतों का ही मिलन सम्पन्न हुआ है, और, शायद, जिस दिन पश्चिमी जगत् के लोग पूर्वी जगत् के आध्यात्मिक संस्कारों को आत्मसात करेंगे, भूमण्डल का कल्याण उसी दिन होगा और उसी दिन विश्व भर के शान्ति-साधकों के सपने साकार होंगे। किपलिंग ने जो बात कही है कि पूर्व

पूर्व और पश्चिम पश्चिम है, तथा दोनों का मिलन नहीं होगा, यह असत्य है। सत्य तो यह दिखता है कि पश्चिम पूर्व से मिलेगा और, ठीक उसी प्रकार मिलेगा, जैसे नरेन्द्रनाथ रामकृष्ण से मिले थे।

निवृत्ति की परम्परा

उपनिषदों के समय से भारतवर्ष निवृत्तिवादियों का देश रहा था। एक दृष्टि से देखिये तो निवृत्ति और प्रवृत्ति धर्म की राजनीति है, जैसे साहित्य की राजनीति क्लासिक और रोमांटिक का विवाद है। किन्तु, राजनीति यह केवल पंडितों की है। पंडित ही निवृत्ति के पर्दे में प्रवृत्ति का रस लेते हैं; बाहर त्याग का उपदेश देते हैं, संसार को निस्सार बताते हैं और भीतर उसे सारपूर्ण मानकर उसका उपभोग करते हैं। किन्तु, इस दगाबाजी से जन-साधारण मारा जाता है। जनता के पास छर्ल-प्रपंच और दाँर्व-पेंच उतने नहीं होते, जितने पंडितों के पास होते हैं। परिणाम यह होता है कि पंडित देश में जैसी दार्शनिक धारा चला देते हैं, जनता के कर्म बहुर्त-कुछ उसी के अनुरूप हो जाते हैं। वैदिक हिन्दू प्रवृत्तिमार्गी थे। उनके ऋषि भी गृहस्थ और धर्माचार्य भी बार्ल-बच्चों वाले होते थे। जो लोग वैदिक मंत्रों के स्रष्टा थे, ऊँचे दार्शनिक सिद्धान्तों के आविष्कर्ता और व्याख्याता थे, वे भी खेतों में काम तथा गउओं का पालर्न-पोषण करके परिवार का पालन एवं अतिथियों की सेवा करते थे। जब समाज प्रवृत्तिमार्गी होता है, तब शारीरिक श्रम निन्दा की वस्तु नहीं होता। उस समय हलवाहे और विद्वान, दोनों, एक समान उद्यमी होते हैं। वैदिक काल का समाज ऐसे ही कर्मठ लोगों का समाज था, जब हाथ और मस्तिष्क में कोई वैर नहीं था। तब उपनिषदों का समय आया और पंडितों ने यह सिद्धान्त निकाला कि जीवन का सर्वश्रेष्ठ लक्ष्य मोक्ष है, और मोक्ष को पाने के लिए कामिनी और कांचन का त्याग आवश्यक है। परिणाम यह हुआ कि हट्टे-कट्टे तन्दुरुस्त नौजवान संन्यासी होने लगे और नारियों की मर्यादा समाज में घटने लगी। फिर भी, वैदिक संस्कार अभी निःशेष नहीं हुआ था, इसीलिए उपनिषदों में कहीं-कहीं हम यह उपदेश भी देखते हैं कि भोग निरे अनादर की वस्तु नहीं है, यदि वह त्याग के साथ किया जाय (**तेन त्यक्तेन भुंजीथाः**)। किन्तु, जैन और बौद्ध धर्माचार्यों ने संन्यास की इतनी महिमा गायी कि सारा समाज संन्यासियों से भर गया। फिर तो, भारत में सदियों तक निवृर्त्ति-प्रवृत्ति की भयानक ध्वनि गूँजती रही और कोई भी सुधारक ऐसा उत्पन्न नहीं हुआ, जो समाज को फटकारे कि निवृत्ति की अतिशयता मनुष्य को कायर एवं दरिद्र बना देती है। भक्ति-काल में आकर निवृत्ति का जहर कुछ कम अवश्य हुआ, किन्तु,

भक्त पंडित और कवि स्वयं निवृत्ति के संस्कारों से ग्रसित थे और, यद्यपि, कहने को वे द्वैत अथवा विशिष्टाद्वैत की बातें कह रहे थे, किन्तु, अन्तर्मन उनका भी यह मानता था कि 'ब्रह्म सत्यं जगन्मिथ्या' वाला सिद्धान्त ही सत्य है। कबीर, नानक और वल्लभाचार्य ने गृहस्थी बसाकर संसार को सम्मान अवश्य दिया, किन्तु, जनता को प्रवृत्ति के मार्ग पर लाने का सचेष्ट प्रयास उनमें भी नहीं था। कबीर आदि निर्गुणवादियों के उपदेश तो, निश्चित रूप से, निवृत्ति को बढ़ावा देनेवाले थे। दार्शनिक स्तर पर जीवन को असत्य कहते-कहते हिन्दुओं ने उसे, सचमुच ही, असत्य मान लिया एवं देश और समाज से उनकी दिलचस्पी दिनों-दिन कम होती चली गयी। प्रत्येक हिन्दू, माँ के पेट से ही, इस विश्वास को लेकर आने लगा कि परलोक की साधना सबसे श्रेष्ठ सुकर्म है, चाहे लोक हमारे हाथों से छूट ही क्यों न जाय। इसीलिए, कण्ठी, माला, आरती और घण्टे में मग्न हिन्दुओं को यह बात कभी अखरी ही नहीं कि धर्म को अफीम कहनेवाला चिन्तक यूरोप में जनमा, जबकि धर्म ने सबसे अधिक विनाश हिन्दुओं का किया है।

सांस्कृतिक राष्ट्रीयता के पिता

उन्नीसवीं सदी के अँगरेजी पढ़े-लिखे हिन्दू अपने धर्म के इन कुपरिणामों को समझने लगे थे। एक यह भी कारण था कि धर्म पर से उनकी श्रद्धा हटने लगी थी। अतएव, जब स्वामी विवेकानन्द का आविर्भाव हुआ, उन्हें अपने सामने कई प्रकार के उद्देश्य दिखायी पड़े। सबसे बड़ा कार्य धर्म की पुनः स्थापना का कार्य था। बुद्धिवादी मनुष्यों की श्रद्धा धर्म पर से केवल भारत में ही नहीं, सभी देशों में हिलती जा रही थी। अतएव, यह आवश्यक था कि धर्म की ऐसी व्याख्या प्रस्तुत की जाय जो अभिनव मनुष्य को ग्राह्य हो, जो उसकी इहलौकिक विजय के मार्ग में बाधा नहीं डाले। दूसरा काम हिन्दू-धर्म पर, कम-से-कम, हिन्दुओं की श्रद्धा जमाये रखना था। किन्तु, हिन्दू यूरोप के प्रभाव में आ चुके थे तथा अपने धर्म और इतिहास पर भी वे तब तक विश्वास करने को तैयार न थे, जब तक कि यूरोप के लोग उनकी प्रशंसा नहीं करें। और तीसरा काम भारतवासियों में आत्म-गौरव की भावना को प्रेरित करना था, उन्हें अपनी संस्कृति, इतिहास और आध्यात्मिक परम्पराओं का योग्य उत्तराधिकारी बनाना था।

स्वामी विवेकानन्द का देहान्त केवल ३९ वर्ष की आयु में हो गया, किन्तु, इस छोटी-सी अवधि में ही उन्होंने उपर्युक्त तीनों कार्य सम्पन्न कर दिये। राममोहन राय के समय से भारतीय संस्कृति और समाज में जो आन्दोलन चल रहे थे, वे

विवेकानन्द में आकर अपनी चरम सीमा पर पहुँचे। राममोहन, केशव सेन, दयानन्द, रानाडे, एनी बीसेंट, रामकृष्ण एवं अन्य चिन्तकों तथा सुधारकों ने भारत में जो जमीन तैयार की, विवेकानन्द उसमें से अश्वत्थ होकर उठे। अभिनव भारत को जो कुछ कहना था, वह विवेकानन्द के मुख से उद्गीर्ण हुआ। अभिनव भारत को जिस दिशा की ओर जाना था, उसका स्पष्ट संकेत विवेकानन्द ने दिया। विवेकानन्द वह सेतु है, जिस पर प्राचीन और नवीन भारत परस्पर आलिंगन करते हैं। विवेकानन्द वह समुद्र है, जिसमें धर्म और राजनीति, राष्ट्रीयता और अन्तर्राष्ट्रीयता, तथा उपनिषद् और विज्ञान – सर्ब-कें-सब समाहित होते हैं। रवीन्द्रनाथ ने कहा है, "यदि कोई भारत को समझना चाहता है, तो उसे विवेकानन्द को पढ़ना चाहिए।" अरविन्द का वचन है कि "पश्चिमी जगत में विवेकानन्द को जो सफलता मिली, वही इस बात का प्रमाण है कि भारत केवल मृत्यु से बचने को नहीं जगा है, वरन् वह विश्व-विजय करके दम लेगा।" और नेताजी सुभाषचन्द्र बोस ने लिखा है कि "स्वामी विवेकानन्द का धर्म राष्ट्रीयता को उत्तेजना देनेवाला धर्म था। नयी पीढ़ी के लोगों में उन्होंने भारत के प्रति भक्ति जगायी, उसके अतीत के प्रति गौरव एवं उसके भविष्य के प्रति आस्था उत्पन्न की। उनके उद्गारों से लोगों में आत्म-निर्भरता और स्वाभिमान के भाव जगे हैं। स्वामीजी ने सुस्पष्ट रूप से राजनीति का एक भी सन्देश नहीं दिया, किन्तु, जो भी उनके अथवा उनकी रचनाओं के सम्पर्क में आया, उसमें देशभक्ति और राजनैतिक मानसिकता आप-से-आप उत्पन्न हो गयी।"

ये सारी प्रशंसाएँ सही हैं। इनमें कोई भी अत्युक्ति नहीं है। स्वामीजी धर्म और संस्कृति के नेता थे। राजनीति से उनका कोई सरोकार नहीं था। किन्तु, राजनीति तो स्वयं संस्कृति की चेरी है, उसका लघु अंग मात्र है। स्वामीजी ने अपनी वाणी और कर्तृत्व से भारतवासियों में यह अभिमान जगाया कि हम अत्यन्त प्राचीन सभ्यता के उत्तराधिकारी हैं; हमारे धार्मिक ग्रन्थ संसार में सबसे उन्नत और हमारा इतिहास सबसे महान है; हमारी संस्कृत भाषा विश्व की सबसे प्राचीन भाषा है और हमारा साहित्य सबसे उन्नत साहित्य है; यही नहीं, प्रत्युत हमारा धर्म ऐसा है कि जो विज्ञान की कसौटी पर खरा उतरता है और जो विश्व के सभी धर्मों का सार होता हुआ भी उन सबसे अधिक है। स्वामीजी की वाणी से हिन्दुओं में यह विश्वास उत्पन्न हुआ कि उन्हें किसी के भी सामने मस्तक झुकाने अथवा लज्जित होने की आवश्यकता नहीं है। भारत में सांस्कृतिक राष्ट्रीयता पहले उत्पन्न हुई, राजनैतिक राष्ट्रीयता बाद

को जनमी है और इस सांस्कृतिक राष्ट्रीयता के पिता स्वामी विवेकानन्द थे।

शिकागो सम्मेलन

सन् १८९३ ई० में शिकागो (अमेरिका) में निखिल विश्व के धर्मों का एक महा-सम्मेलन हुआ था। स्वामी विवेकानन्द के हृदय में यह भाव उत्पन्न हुआ कि वे इस सम्मेलन में अवश्य जायेंगे और अनेक प्रचण्ड बाधाओं के होते हुए भी वे इस सम्मेलन में सम्मिलित हुए। हिन्दुत्व एवं भारतवर्ष के लिए यह अच्छा हुआ कि स्वामीजी इस सम्मेलन में जा सके; क्योंकि इस सम्मेलन में हिन्दुत्व के पक्ष में ऐसा ऊँचा प्रचार हुआ, जैसा न तो कभी पहले हुआ था, न उसके बाद से लेकर आज तक हो पाया है। हाँ, उस गूँज और प्रतिध्वनि की दृष्टि से स्वामीजी की अमेरिका-यात्रा उतनी ही सफल हुई, जितनी पंडित जवाहरलाल नेहरू की रूस-यात्रा (१९५५ ई०) समझी जाती है।

स्वामीजी के विदेश-गमन के कई उद्देश्य थे। एक तो वे भारतवासियों के इस अन्धविश्वास को तोड़ना चाहते थे कि समुद्र-यात्रा पाप है और विदेशियों के हाथ का अन्न और जल ग्रहण करने से जाति चली जाती है। दूसरे भारत के अँगरेजी पढ़े-लिखे लोगों को वे यह भी दिखलाना चाहते थे कि भारतवासी अपना आदर आप भले ही न करें, किन्तु, उनके सांस्कृतिक गुरु पश्चिम के लोग भारत से प्रभावित हो सकते हैं। उनका यह अटल विश्वास था कि भारत के आध्यात्मिक विचारों और आदर्शों का प्रचार यदि पश्चिम के उन्नत देशों में किया जाय, तो इससे वहाँ के लोग अवश्य प्रभावित होंगे तथा पृथ्वी पर एक नयी कल्पना, एक नये जीवन का सूत्रपात होगा। श्रीरामकृष्ण ने साधनापूर्वक यह जान लिया था कि विश्व के सभी धर्म एक ही धर्म के विभिन्न अंग हैं एवं सम्पूर्ण विश्व में एक प्रकार की धार्मिक एकता का भाव जगना ही चाहिए। अजब नहीं कि स्वामीजी इस उद्देश्य की सिद्धि के लिए भी शिकागो के धार्मिक सम्मेलन में जाने को आतुर हो उठे हों।

शिकागो-सम्मेलन में स्वामीजी ने जिस ज्ञान, जिस उदारता, जिस विवेक और जिस वाग्मिता का परिचय दिया,उससे वहाँ के सभी लोग मंत्रमुग्ध और पहले ही दिन से, उनके भक्त हो गये। प्रथम दिन तो स्वामीजी को सबसे अन्त में बोलने का अवसर इसलिए दिया गया था कि उनका कोई समर्थक नहीं था, उन्हें कोई जानता या पहचानता नहीं था। किन्तु, उसके बाद, सम्मेलन में जो उनके दस-बारह भाषण हुए, वे भाषण भी उन्होंने प्रतिदिन सभा के अन्त में ही दिये, क्योंकि सारी जनता उन्हीं का भाषण सुनने को अन्त तक बैठी रहती थी। उनके भाषणों पर टिप्पणी करते

हुए 'द न्युयार्क हेराल्ड' ने लिखा था कि धर्मों की पार्लमेंट में सबसे महान व्यक्ति विवकानन्द हैं। उनका भाषण सुन लेने पर, अनायास, यह प्रश्न उठ खड़ा होता है कि ऐसे ज्ञानी देश को सुधारने के लिए धर्मप्रचारक भेजना कितनी बेवकूफी की बात है।

शिकार्गो-सम्मेलन से उत्साहित होकर स्वामीजी अमेरिका और इंग्लैण्ड में तीन साल तक रह गये और इस अवधि में भाषणों, वार्तालापों, लेखों, कविताओं, विवादों और वक्तव्यों के द्वारा उन्होंने हिन्दू-धर्म के सार को सारे यूरोप में फैला दिया। प्रायः डेढ़ सौ वर्षों से ईसाई धर्म-प्रचारक संसार में हिन्दुत्व की जो निन्दा फैला रहे थे, उस पर अकेले स्वामीजी के कर्तृत्व ने रोक लगा दी और जब भारतवासियों ने सुना कि सारा पश्चिमी जगत स्वामीजी के मुख से हिन्दुत्व का आख्यान सुनकर गद्गद हो रहा है, तब हिन्दू भी अपने धर्म और संस्कृति के गौरव का अनुभव कुछ तीव्रता से करने लगे। अँगरेजी पढ़कर बहके हुए हिन्दू बुद्धिवादियों को समझाना बहुत कठिन कार्य था। किन्तु, जब उन्होंने देखा कि स्वयं यूरोप और अमेरिका के नर्र-नारी स्वामीजी के शिष्य बनकर हिन्दुत्व की सेवा में लगते जा रहे हैं, तब उनके भीतर भी ग्लानि की भावना जगी और बकवास छोड़कर वे भी स्थिर होने लगे। इस प्रकार, हिन्दुत्व को लीलने के लिए अँगरेजी भाषा, ईसाई धर्म और यूरोपीय बुद्धिवाद के रूप में जो तूफान उठा था, वह स्वामी विवेकानन्द के हिमालर्य-जैसे विशाल वक्ष से टकराकर लौट गया। हिन्दू-जाति का धर्म है कि जह जब तक जीवित रहे, विवेकानन्द की याद उसी श्रद्धा से करती जाय; जिस श्रद्धा से वह व्यास और वाल्मीकि की याद करती है।

यूरोप और अमेरिका को निवृत्ति की शिक्षा

स्वामीजी की व्यावहारिकता यह थी कि यूरोप और अमेरिका को उन्होंने संयम और त्याग का महत्व समझाया, किन्तु, भारतवासियों का ध्यान उन्होंने भारतीय समाज की आर्थिक दुरवस्था की ओर आकृष्ट किया एवं धर्म को उनके सामने ऐसा बनाकर रखा, जिससे मनुष्य की आधिभौतिक उन्नति में कोई बाधा नहीं पड़े। अमेरिका की उच्छल जीवर्नी-शक्ति, वहाँ की स्वच्छता, वहाँ का संगठन, वहाँ की सौन्दर्य-भावना और वहाँ के वैज्ञानिक साधनों का उपयोग, ये बातें स्वामीजी को बहुत पसन्द आयी थीं। किन्तु, यूरोपीय सभ्यता में जो दोष हैं, वे उनकी आँखों से ओझल नहीं रहे। बोस्टन में दिये गये अपने एक भाषण में स्वामीजी ने इन दोषों का ऐसा पर्दाफास किया कि वहाँ की जनता उनसे रुष्ट हो गयी। फिर भी, स्वामीजी ने अमेरिकी और यूरोपीय लोगों को उनकी सभ्यता का दोष दिखाना बन्द नहीं किया।

यूरोप और अमेरिका में जो जातीय अहंकार है, स्वार्थ-साधन और विलासिता के लिए जो पारस्परिक होड़ है, धर्म और संस्कृति के मामले में वहाँ जो भयानक असहिष्णुता है, गरीबों के आर्थिक शोषण का जो विकराल भाव तथा राजनैतिक चालबाजियाँ और हिंसा के उद्वेग हैं, उन्हें स्वामीजी यूरोपीय सभ्यता के पाप कहते थे और पश्चिमी देशों के श्रोताओं के सामने वे इनका खुलकर उल्लेख करते थे। व्यक्ति और समाज, दोनों की रक्षा और शान्ति के लिए स्वामीजी धर्म को आवश्यक मानते थे, अतएव, यूरोप को धर्म से विमुख होते देखकर उन्हें चिन्ता हुई। उनका विचार था कि धर्महीन सभ्यता निरी पशुता का उज्ज्वल रूप है तथा उसका विनाश, उसी प्रकार, अवश्यम्भावी है, जैसे अतीत के अनेक साम्राज्य विनष्ट हुए हैं। उन्होंने कई बार यह चेतावनी दी कि आध्यात्मिकता को अनादृत करके यूरोप उस ज्वालामुखी के मुख पर बैठ गया है, जो किसी भी क्षण विस्फोट कर सकता है।

रूढ़ियों, आडम्बरों और बाह्याचारों से ऊपर उठकर स्वामीजी ने धर्म की विलक्षण व्याख्या प्रस्तुत की। "धर्म मनुष्य के भीतर निहित देवत्व का विकास है।" "धर्म न तो पुस्तकों में है, न धार्मिक सिद्धान्तों में। वह केवल अनुभूति में निवास करता है। ... धर्म अन्धविश्वास नहीं है, धर्म अलौकिकता में नहीं है, वह जीवन का अत्यन्त स्वाभाविक तत्त्व है।" मनुष्य में पूर्णता की इच्छा है, अनन्त जीवन की कामना है, ज्ञान और आनन्द प्राप्त करने की चाह है। पूर्णता, ज्ञान और आनन्द, ये निचले स्तर पर नहीं हैं; उनकी खोज जीवन के उच्च स्तर पर की जानी चाहिये। जहाँ ऊँचा स्तर आता है, वहीं धर्म का आरम्भ होता है। "जीवन का स्तर जहाँ हीन है, इन्द्रियों का आनन्द वहीं अत्यन्त प्रखर होता है। खाने में जो उत्साह भेड़िये और कुत्ते दिखाते हैं, वह उत्साह भोजन के समय मनुष्य में नहीं दिखायी देता। कुत्तों और भेड़ियों का सारा आनन्द उनकी इन्द्रियों में केन्द्रित होता है। इसी प्रकार, सभी देशों के निचले स्तर के मनुष्य इन्द्रियों के आनन्द में अत्यन्त उत्साह दिखाते हैं। किन्तु, जो सच्चे अर्थों में शिक्षित और सुसंस्कृत व्यक्ति हैं, उनके आनन्द का आधार विचार और कला होती है, दर्शन और विज्ञान होता है। किन्तु, आध्यात्मिकता तो और भी ऊँचे स्तर की चीज है, अतएव, इस स्तर का आनन्द भी अत्यन्त सूक्ष्म और प्रचुर होता है।" यूरोप और अमेरिका के निवासियों पर स्वामीजी ने यह प्रभाव डालना चाहा कि व्यक्ति अथवा समूह के जीवन की सफलता उसकी आधिभौतिक समृद्धि अथवा बौद्धिक उपलब्धियों पर निर्भर नहीं करके, आध्यात्मिक उन्नति पर निर्भर करती है। अतएव, मनुष्य को चाहिए कि पहले वह पवित्रता, भक्ति, विनयशीलता,

सच्चाई, निःस्वार्थता और प्रेम का विकास करे तथा बाद में अन्य गुणों का।

भारत को प्रवृत्ति का उपदेश

यूरोप और अमेरिका में भोग की सामग्रियाँ प्रचुर परिमाण में उपलब्ध थीं। इसलिए स्वामीजी ने वहाँ के निवासियों को संयम और त्याग की शिक्षा दी। किन्तु, भारत में दरिद्रता का साम्राज्य था, निर्धनता का नग्न वास था एवं यहाँ के लोग धनाभाव के कारण भी जीवन के ऊँचे गुणों से वियुक्त हो गये थे। अतएव, भारतवासियों को उन्होंने जो उपदेश दिया, वह केवल धर्म के लिए नहीं था, प्रत्युत, उन्होंने यहाँ के लोगों में असन्तोष जगाना चाहा, उन्हें कर्म की भावना से आन्दोलित करने की चेष्टा की तथा शताब्दियों से आती हुई निवृत्ति की विषैली जंजीरों से मुक्त करके उन्होंने भारतवासियों को प्रवृत्ति के कर्ममार्ग पर आरूढ़ करने का प्रयास किया। शिकागो के विश्व-धर्म-सम्मेलन में भी स्वामीजी ने ईसाइयों के समक्ष निर्भीक गर्जना की थी, "तुम ईसाई लोग मूर्तिपूजकों की आत्मा के बचाव के लिए भारत में धर्म-प्रचारक भेजने को बहुत ही आतुर दिखते हो, किन्तु, इन मूर्तिपूजकों को शरीर की क्षुधा की ज्वाला से बचाने के लिए तुम क्या कर रहे हो? भयानक दुर्भिक्षों के समय लाखों भारतवासी निराहार मर गये, किन्तु, तुम ईसाइयों से कुछ भी नहीं बन पड़ा। भारत की भूमि पर तुम गिरजों पर गिरजे बनवाते जा रहे हो, किन्तु, तुम्हें यह ज्ञात नहीं है कि पूर्वी जगत की आकुल आवश्यकता रोटी है, धर्म नहीं। धर्म एशियावालों के पास अब भी बहुत है। वे दूसरों से धर्म का पाठ नहीं पढ़ना चाहते। जो जाति भूख से तड़प रही है, उसके आगे धर्म परोसना उसका अपमान है। जो जाति रोटी को तरस रही है, उसके हाथ में दर्शन और धर्मग्रन्थ रखना उसका मजाक उड़ाना है।"

कहते हैं, एक बार कोई नवयुवक स्वामीजी के पास गया और बोला, "स्वामीजी ! मुझे गीता समझा दीजिए।" स्वामीजी ने सच्चे मन से कहा, "गीता समझने का वास्तविक क्षेत्र फुटबॉल का मैदान है। जाओ, घण्टे भर खेर्ल-कूद लो, गीता तुम स्वयं समझ जाओगे।"

स्वामी विवेकानन्द संसार में घूमकर देख चुके थे कि नयी मानवता कितनी उच्छल और बलवती है। उसकी तुलना में भारत के लोग उन्हें बौने और बीमार दिखायी दिये। अतएव, भारत में उनके अधिकांश उपदेश उन्नति, साहस, सेवा और कर्म की महत्ता सिद्ध करने को दिये गये। भारतवर्ष को वे क्षीण और कोमर्ल-वपु संन्यासियों का देश बनाना नहीं चाहते थे, न उनका यही उद्देश्य था कि यहाँ के

लोग, अनिवार्यतः, शाकभोजी होकर धर्म की साधना करते हुए निर्धनता और गुलामी का देश सहें और मौन रहें। अपने एक शिष्य द्वारा यह पूछे जाने पर कि मांस-मछली खानी चाहिए या नहीं, स्वामीजी ने कहा, "शाक-पात खाकर जीनेवाले आमाशय के रोगियों से सारा देश भर गया है। ये लक्षण सत्त्व के नहीं, भयानक तमस के हैं और तमस मृत्यु की कालिमा का नाम है। आकृति में दमकती हुई कान्ति, हृदय में अदम्य उत्साह और कर्म-चेष्टा की विपुलता और उद्वेलित शक्ति, ये सत्त्व की पहचान हैं। इसके विपरीत, तमस का लक्षण आलस्य और शैथिल्य है, अनुचित आसक्ति और निद्रा का मोह है। ... कौन भोजन शुद्ध और कौन अशुद्ध है, क्या इसी विचिकित्सा में जीवन बिता दोगे अथवा इन्द्रिय-निग्रह का भी कुछ ध्यान है ? हमारा लक्ष्य इन्द्रियों का निग्रह है, मन को वश में लाना है। अच्छे और बुरे का भेद, शुद्ध और अशुद्ध का विचार इन्द्रिर्य-निग्रह नहीं, उस ध्येय में सहायक मात्र है।"

स्वामीजी बार बार कहा करते थे कि भारत का कल्याण शक्ति की साधना में है। जर्न-जन में जो शक्ति छिपी हुई है, हमें उसे साकार करना है। जर्न-जन में जो साहस और जो विवेक प्रच्छन्न है, हमें उसे बाहर लाना है। "मैं भारत में लोहे की मांसपेशियों और फौलाद की नाड़ी तथा धमनी देखना चाहता हूँ, क्योंकि इन्हीं के भीतर वह मन निवास करता है जो शम्पाओं और वज्रों से निर्मित होता है। शक्ति, पौरुष, क्षात्र-वीर्य और ब्रह्मतेज – इनके समन्वय से भारत की नयी मानवता का निर्माण होना चाहिए। ... मृत्यु का ध्यान करो। प्रलय को अपनी समाधि में देखो तथा महाभैरव रुद्र को अपनी पूजा से प्रसन्न करो। जो भयानक है, उसकी अर्चना से ही भय बस में आयेगा। ... सम्भव हो तो जीवन को छोड़कर मृत्यु की कामना करो। तलवार की धार पर अपना शरीर लगा दो और रुद्र-शिव से एकाकार हो जाओ।"

संस्कृति का ध्यान करर्त-करते भारत का स्वाभिमान जग चुका था। अब दूसरा सोपान उसकी वीरता, निर्भयता और बलिदान की भावना को जाग्रत करना था। स्वामीजी ने वीरता, बलिदान और निर्भयता की शिक्षाएँ भी धर्म से निकालीं एवं रुद्र-शिव तथा महाकाली को लोगों का आराध्य बना दिया। स्वामीजी की अहिंसा और वैराग्य-भावना में भी क्षात्र-धर्म का स्पर्श था। जिन विचारों, धर्मों और आचारों से कायरता की वृद्धि एवं पौरुष का दलन होता है, स्वामीजी उनके अत्यन्त विरुद्ध थे। इसीलिए, बुद्ध की अहिंसा की, स्वामीजी ने कभी भी खुलकर प्रशंसा नहीं की, बल्कि, एक बार तो उन्होंने कह भी दिया कि बुद्ध की शिक्षाओं के पीछे

"भयानक दुर्बलता की छाया विद्यमान है।" स्वामीजी न तो धर्मयुद्ध के प्रेमी थे, न उनकी यही सम्मति थी कि क्रोध के प्रत्येक उफान पर मनुष्य को तलवार लेकर दौड़ना ही चाहिए। किन्तु, हिंसा को, कदाचित्, वे सभी स्थितियों में त्याज्य नहीं मानते थे। एक बार उनसे किसी भक्त ने पूछा कि, "महाराज ! कोई शक्तिशाली व्यक्ति यदि किसी दुर्बल का गला टीप रहा हो, तो हमें क्या करना चाहिए ?" स्वामीजी ने तड़ाक से उत्तर दिया, "क्यों ? बदले में उस शक्तिशाली की गर्दन टीप दो। क्षमा भी कमजोर होने पर अक्षम्य है, असत्य और अधर्म है। युद्ध उससे उत्तम है। क्षमा तभी करनी चाहिए, जब तुम्हारी भुजा में विजय की शक्ति वर्तमान हो।"

आधिभौतिकता ने भारत के सामने जो चुनौती रखी थी, उसका भी समीचीन उत्तर विवेकानन्द ने दिया। वे उस प्रकार के सुधारक और सन्त थे, जिनकी अनुभूतियों में पुराने धर्म नवीन रूप ग्रहण करते हैं, प्राचीन दर्शन की परतें छूटकर गिर जाती हैं और जंग लगे विचार धुलकर चमकने लगते हैं। वे इस बात को कब बर्दाश्त कर सकते थे कि परम्पराएँ भारतवासियों की उन्नति का मार्ग रोकें अथवा धर्म उन्हें निर्धन और गुलाम रहने को लाचार करे ? उपनिषदों का उपदेश है कि सभी आत्माएँ एक हैं, क्योंकि वे सब-की-सब एक ही परब्रह्म के असंख्य प्रतिबिम्ब मात्र हैं। इस सिद्धान्त से स्वामीजी ने यह निष्कर्ष निकाला कि जिसे ब्रह्म कहते हैं, वह सभी जीवों के योग से अधिक नहीं है। अतएव, सच्ची ईशोपासना यह है कि हम अपने मानर्व-बन्धुओं की सेवा में अपने आपको लगा दें। जब पड़ोसी भूखा मरता हो, तब मन्दिर में भोग चढ़ाना पुण्य नहीं, पाप है। जब मनुष्य दुर्बल और क्षीण हो, तब हवन में घृत जलाना अमानुषिक कर्म है। "संसार के अगणित नर्र-नारियों में परमात्मा भासमान है। ... मेरे जीवन का परम ध्येय उस ईश्वर के विरुद्ध संघर्ष करना है, जो परलोक में आनन्द देने के बहाने इस लोक में मुझे रोटियों से वंचित रखता है, जो विधवाओं के आँसू पोंछने में असमर्थ है, जो माँ-बाप से विहीन बच्चे के मुख में रोटी का टुकड़ा नहीं दे सकता।" केष्टा नामक सन्थाल को भोजन कराकर उन्होंने कहा था, "तुम साक्षात नारायण हो। आज मुझे सन्तोष है कि भगवान ने मेरे समक्ष भोजन किया।" वे कहते थे, "वास्तविक शिव की पूजा निर्धन और दरिद्र की पूजा है, रोगी और कमजोर की पूजा है।" निर्धनता, पुरोहितवाद और धार्मिक अत्याचार सिखानेवाले दर्शनों के स्वामीजी प्रचण्ड विरोधी थे। इसी प्रकार, धनियों के प्रति भी उनमें आदर का भाव नहीं था। "भारत की एकमात्र आशा उसकी जनता है। ऊँची श्रेणी के लोग तो शरीर और नैतिकता – दोनों ही दृष्टियों से मर चुके हैं।"

मातृजाति के प्रति उदारता

स्वामीजी स्वयं संन्यासी थे। संन्यासियों का एक बृहत् मठ भी उन्होंने खड़ा किया था एवं समाजसेवी युवकों को वे अविवाहित रहने का उपदेश देते थे। किन्तु, गृहस्थों को वे हीन नहीं मानते थे। उलटे, उनका विचार था कि गृहस्थ भी ऊँचा और संन्यासी भी नीच हो सकता है। "मैं संन्यासी और गृहस्थ में कोई भेद नहीं करता। संन्यासी हो या गृहस्थ, जिसमें भी मुझे महत्ता, हृदय की विशालता और चरित्र की पवित्रता के दर्शन होते हैं, मेरा मस्तक उसी के सामने झुक जाता है।"

नारियों के प्रति उनमें असीम उदारता का भाव था। वे कहते थे कि "ईसा अपूर्ण थे क्योंकि जिन बातों में उनका विश्वास था, उन्हें वे अपने जीवन में नहीं उतार सके। उनकी अपूर्णता का सबसे बड़ा प्रमाण यह है कि उन्होंने नारियों को नरों के समकक्ष नहीं माना। असल में, उन्हें यहूदी संस्कार जकड़े हुए था, इसीलिए, वें किसी भी नारी को अपनी शिष्या नहीं बना सके। इस मामले में बुद्ध उनसे श्रेष्ठ थे, क्योंकि उन्होंने नारियों को भी भिक्षुणी होने का अधिकार दिया था।

एक बार उनके एक शिष्य ने पूछा, "महाराज ! बौद्ध मठों में भिक्षुणियाँ बहुत रहती थीं। इसीलिए तो देश में अनाचार फैल गया।" स्वामीजी ने इस आलोचना का उत्तर नहीं दिया, किन्तु वे बोले, "पता नहीं, इस देश में नारियों और नरों में इतना भेद क्यों किया जाता है। वेदान्त तो यही सिखाता है कि सबमें एक ही आत्मा निवास करती है। तुम लोग नारियों की सदैव निन्दा ही करते रहते हो, किन्तु, कह सकते हो कि उनकी उन्नति के लिए अब तक तुमने क्या किया है ? स्मृतियाँ रचकर तथा गुलामी की कड़ियाँ गढ़कर पुरुषों ने नारियों को बच्चा जनने की मशीन बनाकर छोड़ दिया है। नारियाँ महाकाली की साकार प्रतिमाएँ हैं। यदि तुमने इन्हें ऊपर नहीं उठाया, तो यह मत सोचो कि तुम्हारी अपनी उन्नति का कोई अन्य मार्ग है। संसार की सभी जातियाँ नारियों का समुचित सम्मान करके ही महान हुई हैं। जो जाति नारियों का सम्मान करना नहीं जानती, वह न तो अतीत में उन्नति कर सकी, न आगे उन्नति कर सकेगी।"

जहाँ तक त्रियां-जाति की वेदनाओं और पीड़ाओं का प्रश्न है, स्वामीजी को भारत और यूरोप, दोनों ही महादेश आँसुओं से सिक्त दिखाई पड़े थे। स्वामीजी ने कहा था, "विपत्तियाँ भारत में भी हैं और पश्चिमी देशों में भी। यहाँ विधवाएँ रोती हैं, वहाँ कुमारियाँ।"

ब्राह्मण-रूपी सर्प

स्वामीजी हिन्दुत्व की शुद्धि के लिए उठे थे तथा उनका प्रधान क्षेत्र धर्म था। किन्तु, धर्म और संस्कृति, ये परस्पर एक दूसरे का स्पर्श करते चलते हैं। भारतवर्ष में राष्ट्रीय पतन के कई कारण आर्थिक और राजनैतिक थे। किन्तु, बहुर्त-से कारण ऐसे भी थे, जिनका सम्बन्ध धर्म से था। अतएव, स्वामी विवेकानन्द ने धर्म का परिष्कार भारतीय समाज की आवश्यकताओं को दृष्टिगत रखकर करना आरम्भ किया और इस प्रक्रिया में कड़ीं-सें-कड़ी बातें भी बड़ी ही निर्भीकता के साथ कह दीं। "शक्ति का उपयोग केवल कल्याण के निमित्त होना चाहिए। जब उससे पाप का समर्थन किया जाता है, तब वह गर्हित हो जाती है। युगों से 'ब्राह्मण' भारतीय संस्कृति का थातीदार रहा है। अब उसे इस संस्कृति को सबके पास विकीर्ण कर देना चाहिए। उसने इस संस्कृति को जनता में जाने से रोक रखा, इसीलिए, भारत पर मुसलमानों का आक्रमण सम्भाव्य हो सका। ब्राह्मण ने संस्कृत के भण्डार पर ताला लगा रखा, जर्न-साधारण को उसमें से कुछ भी लेने नहीं दिया, इसीलिए, हजारों साल तक जो भी जातियाँ भारत में आती रहीं, हम उनके गुलाम होते गये। हमारे पतन का कारण ब्राह्मण की अनुदारता रही है। भारत के पास जो भी सांस्कृतिक कोष है, उसे जर्न-साधारण के कब्जे में जाने दो। और चूँकि ब्राह्मण ने यह पाप किया था, इसलिए, प्रायश्चित्त भी सबसे पहले उसी को करना है। साँप का काटा हुआ आदमी जी उठता है, यदि वही साँप आकर फिर से अपना जहर चूस ले। भारतीय समाज को ब्राह्मर्ण-रूपी सर्प ने डँसा है। यदि ब्राह्मण अपना विष वापस ले ले, तो यह समाज अवश्य जी उठेगा।"

एकता का मंत्र

ऊँची और तथाकथित नीची जातियों के बीच सामाजिक पर्द-प्रतिष्ठा को लेकर जो संघर्ष है, स्वामीजी ने उससे पैदा होनेवाले खतरों पर भी विचार किया था। इस सम्बन्ध में उनका समाधान यह था कि यदि ब्राह्मण कहलाने से सभी जातियों को सन्तोष होता है, तो उचित है कि वे अपनी-अपनी सभाओं में यह घोषणा कर दें कि हम ब्राह्मण हैं। इससे भारत को बहुत बड़ी शक्ति प्राप्त होगी। एक तो इस देश में जातियों का भेद आप-से-आप समाप्त हो जायगा। दूसरे, सभी वर्णों के लोग ब्राह्मण-संस्कृति को स्वीकार करके आज के सांस्कृतिक धरातल से स्वयमेव ऊपर उठ जायँगे। हाँ; स्वामीजी का यह भी विचार था कि रुपये चाहे जिस विद्या से भी प्राप्त हो जायँ; किन्तु, सामाजिक प्रतिष्ठा भारतवर्ष में अब भी संस्कृर्त-भाषा के ज्ञान

से मिलती है। अतएव, जो भी भारतवासी ब्राह्मण की प्रतिष्ठावाला पद प्राप्त करना चाहता है, उसे संस्कृत में दक्षता अवश्य प्राप्त करनी चाहिए।

भारतीय एकता का महत्त्व स्वामीजी ने जनता के समक्ष अत्यन्त सुस्पष्ट रूप में रखा। "अथर्ववेद में एक मंत्र है, जिसका अर्थ होता है कि मन से एक बनो, विचार से एक बनो। प्राचीन काल में देवताओं का मन एक हुआ, तभी से वे नैवेद्य के अधिकारी रहे हैं। मनुष्य देवताओं की अर्चना इसलिए करते हैं कि देवताओं का मन एक है। मन से एक होना समाज के अस्तित्व का सार है। किन्तु, द्रविड़ और आर्य, ब्राह्मण और अब्राह्मण, इन तुच्छ विवादों में पड़कर तुम जितना ही झगड़ते जाओगे, तुम्हारी शक्ति उतनी ही क्षीण होती जायगी, तुम्हारा संकल्प एकता से उतना ही दूर पड़ता जायगा। स्मरण रखो कि शक्ति-संचय और संकल्प की एकता, इन्हीं पर भारत का भविष्य निर्भर करता है। जब तक महान कार्यों के लिए तुम अपनी शक्तियों का संचय नहीं करते, जब तक एक-मन होकर तुम आत्मोद्धार के कार्य में नहीं लगते, तब तक तुम्हारा कल्याण नहीं है। प्रत्येक चीनी अपने ही ढंग पर सोचता है, किन्तु, मुट्ठी भर जापानियों का मन एक है। इसके जो परिणाम निकले हैं, उन्हें तुम भलीभाँति जानते हो। विश्व के समग्र इतिहास में यही होता आया है।"

व्यावहारिक नेता के समान स्वामीजी ने भारतियों के चरित्र के एक भीषण दोष पर अपनी उँगली रखी और काफी जोर देकर कहा कि "हमारे देशवासियों में से कोई व्यक्ति जब ऊपर उठने की चेष्टा करता है, तब हम सब लोग उसे नीचे घसीटना चाहते हैं। किन्तु, यदि कोई विदेशी आकर हमें ठोकर मारता है, तो हम समझते हैं, यह ठीक है। हमें इन तुच्छताओं की आदत पड़ गयी है। लेकिन, अब गुलामों को अपना मालिक आप बनना है। इसलिए, दास-भावना को छोड़ दो। अगले पचास वर्षों तक भारतमाता को छोड़कर हमें और किसी का ध्यान नहीं करना है। भारतमाता को छोड़कर और सभी देवता झूठे हैं। उन्हें अपने मन से निकालकर फेंक दो। यही देवी, यही हमारी जाति वास्तविक देवी है। सर्वत्र उसके हाथ दिखायी पड़ते हैं। सर्वत्र उसके पाँव विराजमान हैं, सर्वत्र उसके कान हैं और सब कुछ पर उसी देवी का प्रतिबिम्ब छाया हुआ है। बाकी जितने देवता हैं, नींद में हैं। यह विराट् देवता हमारे सामने प्रत्यक्ष है। इसे छोड़कर हम और किस देवता की पूजा करेंगे?"

यह अकरणीय है

धर्म-साधना के लोभ में जीवन से भागकर गुफा में नाक-कान दबाकर प्राणायाम करने की परम्परा की, भारत में बड़ी महिमा थी। स्वामी विवेकानन्द ने

इस परम्परा की महिमा एक झटके में उड़ा दी। "आधा मील की खाई तो हमसे पार नहीं की जाती, मगर हनुमान के समान हम समग्र सिन्धु को लाँघ जाना चाहते हैं। यह होनेवाली बात नहीं है। हर आदमी योगी बने, हर आदमी समाधि में चला जाय, यह गलत बात है। यह असम्भव है, यह अकरणीय है। दिन भर कर्मसंकुल विश्व के साथ मिलन और संघर्ष तथा संध्या-समय बैठकर प्राणायाम ! क्या यह इतना ही सरल कार्य है ! तुमने तीन बार नाक बजायी है, तीन बार नासिका से भीतर की वायु को बाहर किया है, तो क्या इतने से ही ऋषिगण आकाश से होकर तुम्हारे पास चले आयेंगे ? क्या यह भी कोई मजाक है ? ये सारी बेवकूफी की बातें हैं। जिस चीज की जरूरत है, वह है चित्तशुद्धि और चित्तशुद्धि कैसे होगी ? सबसे पहले विराट् की पूजा होनी चाहिए, उन असंख्य मानवों की, जो तुम्हारे चारों ओर फैले हुए हैं। संसार में जितने भी मनुष्य और जीव-जन्तु हैं, सभी परमात्मा हैं, सभी परब्रह्म के रूप हैं। और इनमें भी सर्वप्रथम हमें अपने देशवासियों की पूजा करनी चाहिए। आपस में ईर्ष्या-द्वेष रखने के बदले, आपस में झगड़ा और विवाद के बदले, तुम परस्पर एक-दूसरे की अर्चना करो, एक-दूसरे से प्रेम रखो। हम जानते हैं कि किन कर्मों ने हमारा सर्वनाश किया, किन्तु, फिर भी हमारी आँख नहीं खुलती।"

पश्चिम से विनिमय

गाँधी, रवीन्द्रनाथ, राधाकृष्णन और जवाहरलाल में हम इस आशा को गतिशील पाते हैं कि भारत के पास जो सन्देश है, भारत के पास जो दीर्घकालीन अनुभव है, उससे सारे विश्व का कल्याण हो सकता है। एशिया साधनहीन और दुःखी, किन्तु, यूरोप समृद्ध एवं असन्तुष्ट है। एशिया उच्च जीवन की कामना लिए अनेक दुर्गतियों को झेलता आ रहा है। यूरोप ने दुर्गतियों पर तो विजय प्राप्त कर ली, किन्तु, उच्च जीवन की राह उसे, मानो, मिली ही नहीं। विश्व का कल्याण इसमें है कि एशिया यूरोप की आधिभौतिकता को ग्रहण करे और, इस प्रकार, ग्रहण करे कि उसकी मानसिकता को आँच नहीं आये। इसी प्रकार, यूरोप के दुर्दान्त शरीर के भीतर जो आत्मा सोती जा रही है, उसे जगकर सचेष्ट होना चाहिए। यूरोप का यह आत्मिक जागरण एशिया की संगति से आयेगा। स्वामीजी की दृष्टि इस आवश्यकता पर भी पड़ी थी और जब सारा भारतवर्ष यूरोप के चाकचिक्य से मोहित हो रहा था, तब उन्होंने घोषणा की कि जीवन का धर्म आदान-प्रदान है। "क्या यह अच्छा होगा कि हम सदैव पश्चिमवालों के चरणों के पास बैठकर सब-कुछ, यहाँ तक कि धर्म भी, सीखते रहें ! क्या हम केवल लेते ही रहेंगे ? देना हमें कुछ भी नहीं

है ? पश्चिम से हम यंत्रवाद की शिक्षा ले सकते हैं। और भी कई बातें अच्छी हैं, जिन्हें पश्चिम से ग्रहण करना आवश्यक दिखता है। किन्तु, हमें उन्हें कुछ सिखाना भी है। हम उन्हें धर्म और आध्यात्मिकता की शिक्षा दे सकते हैं। विश्व-सभ्यता अभी अधूरी है। पूर्ण होने के लिए वह भारत की राह देख रही है। वह भारत की उस आध्यात्मिक सम्पत्ति की प्रतीक्षा में है, जो पतन, गन्दगी और भ्रष्टाचार के होते हुए भी भारत के हृदय में जीवित और अक्षुण्ण है। इसलिए, संकीर्णता को छोड़कर हमें बाहर निकलना है। पश्चिमवालों से हमें एक विनिमय करना है। धर्म और आध्यात्मिकता के स्तर की चीजें हम उन्हें देंगे और बदले में, भौतिक साधनों का दान हम सहर्ष स्वीकार करेंगे। समानता के बिना मैत्री सम्भव नहीं होती और समानता वहाँ आयेगी कहाँ से, जहाँ एक तो बराबर गुरु बना रहना चाहता है और दूसरा उसका सनातन शिष्य ?''

औसत हिन्दू धीर और अनुग्र होता है। इस धीरज और अनुग्रता को स्वामीजी भावी सभ्यता के लिए वरदान समझते थे। उनका विचार था कि संसार पर धीर और अनुग्र हिन्दू-जाति का जितना आभार है, उतना और किसी जाति का नहीं। ''हिन्दू-जाति की महिमा राजनैतिक महत्ता अथवा सामरिक शक्ति के कारण नहीं है। राजनैतिक महत्ता और सामरिक शक्ति का अर्जन हमारी जाति का ध्येय न तो पहले था, न कभी आगे होनेवाला है।'' हिन्दू का मस्तिष्क शीतल और शान्त होता है। मानव-जाति की सर्वांगीण उन्नति में हिन्दुओं को अपना अंशदान इस शीतल-शान्त मस्तिष्क के द्वारा ही प्रदान करना होगा।

स्वामीजी के समय से ही यह प्रत्यक्ष हो गया था कि भारत यूरोप के समान राजनैतिक शक्ति का आगार होना चाहता है। इसकी उपयोगिता स्वीकार करते हुए भी स्वामीजी ने यह चेतावनी दी थी कि भारत की रीढ़ धर्म है। वह दिन बुरा होगा, जब यह देश अपनी आध्यात्मिक रीढ़ को हटाकर उसकी जगह पर एक राजनैतिक रीढ़ बैठा लेगा।

भारत को स्वामीजी ने यह भी सुझाया था कि यूरोप में गरीबी और पाप सहभागी माने जाते हैं। किन्तु, अपने देश में गरीबी पाप नहीं है। उलटे, इस देश के सबसे बड़े लोग गरीबी की पोशाक में रहते थे।

इस्लाम के प्रति दृष्टिकोण

हिन्दुत्व के प्रबल समर्थक होने पर भी स्वामी विवेकानन्द में इस्लाम के प्रति कोई द्वेष नहीं था। उनके गुरु परमहंस रामकृष्ण ने तो छह महीनों तक, विधिवत्,

मुसलमान होकर इस्लाम की साधना भी की थी। इस संस्कार के कारण इस्लाम के प्रति उनका दृष्टिकोण यथेष्ट रूप से उदार था। उन्होंने कहा है कि "यह तो कर्म का फल था कि भारत को दूसरी जातियों ने गुलाम बनाया। किन्तु, भारत ने भी अपने विजेताओं में से प्रत्येक पर सांस्कृतिक विजय प्राप्त की। मुसलमान इस प्रक्रिया के अपवाद नहीं हैं। शिक्षित मुसलमान, प्रायः सूफी होते हैं जिनके विश्वास हिन्दुओं के विश्वास से भिन्न नहीं होते। इस्लामी संस्कृति के भीतर भी हिन्दू-विचार प्रविष्ट हो गये हैं। विख्यात मुगल सम्राट अकबर हिन्दुत्व के काफी समीप था। यही नहीं, प्रत्युत, काल-क्रम में इंग्लैण्ड पर भी भारत का प्रभाव पड़ेगा।"

सिस्टर निवेदिता की पुस्तक (माई मास्टर) में इस बात का उल्लेख है कि एक बार स्वामीजी तीन-चार दिनों की एकान्त समाधि से लौटकर निवेदिता से बोले, "मेरे मन में यह सोचकर बराबर क्षोभ उठता था कि मुसलमानों ने हिन्दुओं के मन्दिरों को क्यों तोड़ा, उनके देवी-देवताओं की मूर्तियों को क्यों भ्रष्ट किया? किन्तु, आज माँ (काली) ने मेरे मन को आश्वस्त कर दिया। उन्होंने मुझसे कहा, "अपनी मूर्तियों को मैं कायम रखूँ या तुड़वा दूँ, यह मेरी इच्छा है। इन बातों पर सोच-सोचकर तू क्यों दुःखी होता है ?"

इस्लाम और हिन्दुत्व के मिलन का महत्त्व स्वामीजी ने एक और उच्च स्तर पर बतलाया है। सामान्यतः, वेदान्त ज्ञान का विषय समझा जाता है, जिसमें त्याग और वैराग्य की बातें अनिवार्य रूप से आ जाती हैं, किन्तु, इस्लाम, मुख्यतः, भक्ति का मार्ग है तथा हजरत मुहम्मद का पन्थ देह-दंडन, संन्यास और वैराग्य को महत्त्व नहीं देता। किन्तु, स्वामी विवेकानन्द की व्याख्या का वेदान्त निवृत्ति से मुक्त शुद्ध प्रवृत्ति का मार्ग था एवं तात्त्विक दृष्टि से इस्लाम के प्रवृत्ति-मार्ग से उसका कोई विरोध नहीं था। इसलिए, स्वामीजी की कल्पना थी कि इस्लाम की व्यावहारिकता को आत्मसात् किये बिना वेदान्त के सिद्धान्त जनता के लिए उपयोगी नहीं हो सकते। सन् १८९८ ई० में उन्होंने एक चिट्ठी में यह भी लिखा था कि "हमारी जन्मभूमि का कल्याण तो इसमें है कि उसमें दो धर्म, हिन्दुत्व और इस्लाम, मिलकर एक हो जायँ। वेदान्ती मस्तिष्क और इस्लामी शरीर के संयोग से जो धर्म खड़ा होगा, वही भारत की आशा है।"

भारत में विश्व-धर्म, विश्व-बन्धुत्व और विश्ववाद की भावना का आरम्भ राममोहन राय की अनुभूतियों में हुआ था एवं उन्होंने हिन्दू-धर्म की जो व्याख्या प्रस्तुत की थी, वह विश्व-धर्म की भूमिका से तनिक भी कम नहीं थी। मुक्त चिन्तन,

वैयक्तिक स्वातंत्र्य और प्रत्येक प्रकार का विश्वास रखकर भी धर्मच्युत नहीं होने की योग्यता, हिन्दू-धर्म के पुराने लक्षण रहे हैं। हिन्दू नास्तिक भी रहा है और आस्तिक भी, साकारवादी भी रहा है और निराकारवादी भी, उसने महावीर का भी आदर किया है और बुद्ध का भी। उसने वेदों को अपौरुषेय भी माना है और पौरुषेय भी। विश्वासों में यह जो प्रचण्ड भिन्नता है उससे हिन्दू का हिन्दुत्व दूषित नहीं होता। हिन्दू जन्म से ही उदार होता है एवं किसी एक विचार पर सभी को लाठी से हाँककर पहुँचाने में वह विश्वास नहीं करता। जब थियोसोफिस्ट लोग हिन्दुत्व का प्रचार करने लगे, तब हिन्दुत्व का यह सार्वभौम पक्ष कुछ और विकसित हो गया। और रामकृष्ण ने तो, बारी-बारी से मुसलमान और क्रिस्तान होकर इस सत्य पर अपनी अनुभूति की मुहर ही लगा दी कि संसार के सभी धर्म एक हैं, उनके बीच किसी प्रकार का भेद-भाव मानना नितान्त अज्ञता की बात है।

स्वामी विवेकानन्द ने हिन्दुत्व के सार्वभौम रूप का और भी व्यापक विस्तार किया। संसार में जो अनेक धर्म फैले हुए हैं, उनकी अनिवार्यता बताते हुए उन्होंने कहा कि मनुष्य सर्वत्र अन्न ही खाता है, किन्तु, देश-देश में अन्न से भोजन तैयार करने की विधियाँ अनेक हैं। इसी प्रकार, धर्म मनुष्य की आत्मा का भोजन है, एवं देश-देश में उसके भी अनेक रूप हैं। भारत में जितने भी धर्म प्रचलित हैं, उनके विषय में स्वामीजी का कहना था कि हमें इन धर्मों को केवल बर्दाश्त करना नहीं है। ये सभी धर्म हमारे अपने धर्म हैं, इस भाव से, उन सबको हमें अपना लेना है।

धार्मिक एकता पर विचार

संसार के धर्मों में एकता कैसे लायी जाय, इसका समाधान नहीं मिलता। प्राचीन काल में अनेक लोग यह मानते थे कि जो धर्म सबसे अच्छा हो, संसार भर के मनुष्यों को उसी में दीक्षित हो जाना चाहिए। इसका परिणाम यह हुआ कि प्रत्येक धर्म के लोग अपने ही धर्म का व्यापक प्रचार करने लगे, जिसमें से इस्लाम और ईसाइयत के प्रचारकों ने सबसे अधिक उत्साह दिखलाया। शिकागो में जो विश्व-धर्म-सम्मेलन हुआ था, उसका भी एक आशय यह था कि संसार में सर्वोत्तम धर्म कौन-सा है, इसका निर्णय कर लिया जाय। किन्तु, उस सम्मेलन में स्वामीजी ने अपना जो विचार रखा, उससे सभी प्रतिनिधि चमत्कृत हो उठे। उन्होंने कहा कि "धार्मिक एकता कैसे हो, इस बात की यहाँ काफी विचिकित्सा हुई है। इस सम्बन्ध में मेरा जो अपना मतवाद है, उसे प्रस्तुत करने का साहस मैं नहीं करूँगा। किन्तु, इतना कहना आवश्यक है कि यदि कोई व्यक्ति यह समझता हो कि धार्मिक एकता

का मार्ग एक धर्म की विजय और बाकी धर्मों का विनाश है, तो मैं उससे निवेदन करूँगा कि बन्धु ! तुम्हारी आशा पूरी नहीं होगी। क्या मैं चाहता हूँ कि सभी ईसाई हिन्दू हो जायँ ? भगवान न करे कि ऐसा हो। क्या मैं यह चाहता हूँ कि सभी हिन्दू और बौद्ध ईसाई हो जायँ ? ईश्वर न करे कि ऐसा हो। ईसाई को हिन्दू या बौद्ध अथवा हिन्दू और बौद्ध को ईसाई नहीं होना है। किन्तु, इनमें से प्रत्येक का कर्तव्य है कि वह अन्य धर्मों के सार अपने भीतर पचा ले और अपनी वैयक्तिकता की, पूर्ण रूप से, रक्षा करते हुए उन नियमों के अनुसार अपना विकास खोजे, जो उसके अपने नियम रहे हैं।'' अन्यत्र उन्होंने कहा है, ''आत्मा की भाषा एक ही है, किन्तु, जातियों की भाषाएँ अनेक होती हैं। धर्म आत्मा की वाणी है। वही वाणी अनेक जातियों की विविध भाषाओं तथा रीति-रिवाजों में अभिव्यक्त हो रही है।''

धर्म को स्वामीजी व्यक्ति और समाज, दोनों के लिए उपयोगी मानते थे। धर्म के विरुद्ध संसार में जो भयानक प्रतिक्रिया उठी है, उसका निदान वे यह देते थे कि दोष धर्म का नहीं, धर्म के गलत प्रयोग का है, ठीक वैसे ही, जैसे विज्ञान से उठनेवाली भीषणताओं का दायित्व विज्ञान पर नहीं होकर उन लोगों पर है जो विज्ञान का गलत उपयोग करते हैं। स्वामीजी का विचार था कि ''धर्म को समाज पर जिस ढंग से लागू किया जाना चाहिए था, उस ढंग से वह लागू किया ही नहीं गया है।'' हिन्दू अपनी सारी धार्मिक योजनाओं को कार्य के रूप में परिणत करने में असफल भले ही रहा हो, किन्तु, यदि कभी भी कोई विश्व-धर्म-जैसा धर्म उत्पन्न होनेवाला है, तो वह हिन्दुत्व के ही समान होगा जो देश और काल में कहीं भी सीमित या आबद्ध नहीं होगा; जो, परमात्मा के समान ही, अनन्त और निर्बाध होगा तथा जिसके सूर्य का प्रकाश कृष्ण और ईसा के अनुयायियों पर तथा सन्तों और अपराधियों पर एक समान चमकेगा। यह धर्म न तो ब्राह्मण होगा, न बौद्ध, न ईसाई, न मुसलमानी, प्रत्युत, वह इन सबके योग और सामंजस्य से उत्पन्न होगा।''

भारत पर अशेष ऋण

विवेकानन्द ने हिन्दू-धर्म और भारतीय संस्कृति की जो सेवा की, उसका मूल्य नहीं चुकाया जा सकता। उनके उपदेशों से भारतवासियों ने यह सीखा कि भारतवर्ष का अतीत इतना उज्ज्वल और महान है कि उसके प्रति गौरव और अभिमान होना ही चाहिए। उनके उपदेशों से हमें यह ज्ञान हुआ कि हमारी प्राचीन संस्कृति प्राणपूर्ण एवं आज भी विश्व का कल्याण करनेवाली है। अँगरेजी पढ़े-लिखे हिन्दू, जो अपने धर्म और संस्कृति की खिल्ली उड़ाने में ही अपनी सार्थकता समझते थे, विवेकानन्द

के उपदेशों और कर्तत्व से ही अन्तिम बार पराजित हुए। यह भी हुआ कि विवेकानन्द के उपदेशों से ही भारतवासी अपने पतन की गहराई माप सके, अपने शारीरिक क्षय एवं आधिभौतिक विनाश, अपनी क्रियाविमुखता और आलस्य तथा अपने पौरुष के भयानक ह्रास को पहचान सके और विवेकानन्द की वाणी में ही सांस्कृतिक राष्ट्रीयता का जन्म हुआ एवं लोगों में अपने भविष्य के प्रति उज्ज्वल आशा संचरित हुई। "साहस का सूर्य उदित हो चुका है। भारत का उत्थान अवश्य होगा। किसी में यह दम नहीं है कि वह अब इसे रोक सके। भारत अब फिर से निद्रा में नहीं पड़ेगा। यह भीमाकार देश, फिर से अपने पाँवों पर खड़ा हो रहा है।"

जब नरेन्द्रनाथ परमहंस रामकृष्ण की संगति में आये, रामकृष्ण ने उनकी प्रतिभा को फौरन पहचान लिया। एक बार परमहंसजी ने कहा था, "जिस एक शक्ति के उत्कर्ष के कारण केशव जगद्विख्यात हुआ है, वैसी अठारह शक्तियों का नरेन्द्र में पूर्ण उत्कर्ष है।" स्वयं नरेन्द्रनाथ के समक्ष प्रार्थना की मुद्रा में रामकृष्ण ने कहा था, "प्रभो ! मुझे मालूम है कि आप पुरातन नारायण ऋषि हैं और जीवों की दुर्गति का निवारण करने के लिए पुनः शरीर धारण करके आये हैं।" यह भक्त की परम्परागत भाषा है। किन्तु, विवेकानन्द की प्रतिभा लोकोत्तर थी, यह तो हम भी कह सकते हैं। वर्तमान भारत जिस ध्येय को लेकर उठा है, उसका सारा आख्यान विवेकानन्द कर चुके थे। बाद के महात्मा और नेता उस ध्येय को कार्य का रूप देने का प्रयास करते रहे हैं। जिस स्वप्न के कवि विवेकानन्द थे, गाँधी और जवाहरलाल उसके इंजीनियर हुए।

रामकृष्ण मिशन की चिकित्सा-सेवाएँ

स्वामी ब्रह्मेशानन्द

(यह रामकृष्ण मिशन का शताब्दी वर्ष है। पिछले सौ वर्षों के दौरान मिशन के विभिन्न केन्द्रों ने किस प्रकार तरह तरह कठिनाइयों के बीच पूरे भारत में तरह तरह की चिकित्सा-सेवाएँ आरम्भ कीं और वर्तमान में उनकी क्या अवस्था है – संघ के आंग्ल मासिक 'वेदान्त-केसरी' के सम्पादक स्वामी ब्रह्मेशानन्द जी ने इस लेख में उसी का लेखा-जोखा प्रस्तुत किया है। – सं०)

सेवाश्रम आन्दोलन का सूत्रपात

लगभग सौ वर्ष पूर्व की कथा है यह। छोटी सी, परन्तु अत्यन्त महत्वपूर्ण ! १३ जून, १९०० ई. का दिन। प्रातःकाल का समय था। भगवान भास्कर ने अभी तक उदित होकर अपना प्रकाश पृथ्वी पर प्रसारित नहीं किया था। युवक यामिनीरंजन काशी की सँकरी अँधेरी गलियों से गुजरते हुए गंगा के घाट की ओर स्नान करने जा रहा था। अचानक उसे एक धीमी-सी मर्मस्पर्शी कराह सुनाई दी। यों तो और भी अनेक लोग उस ओर से होकर गुजर चुके थे, परन्तु किसी से उस ओर ध्यान नहीं दिया था। लेकिन यामिनीरंजन ने रुककर उस ओर देखा। एक कृशकाय क्षुधार्थ रुग्ण वृद्धा गली के किनारे पड़ी हुई थी। इस युवक को निकट आते देखकर वह धीरे से बोली, "मैंने चार दिनों से कुछ भी नहीं खाया है बेटा, मुझे कुछ खाने को दे।"

यामिनीरंजन ने सावधानी के साथ उस वृद्धा को उठाया और निकट के मकान के बरामदे में सुला दिया। फिर वह दौड़ता हुआ घाट पर पहुँचा और वहाँ मिलनेवाले पहले व्यक्ति के सामने हाथ पसार दिया। उसे एक चवन्नी मिली। यामिनीरंजन ने उससे कुछ खाद्य-पदार्थ खरीदे और वृद्धा को खिलाकर उसकी प्राणरक्षा की।

निर्धन, पीड़ित तथा रुग्ण जीवों की शिवज्ञान से की गयी सेवा का यह छोटा-सा अंकुर आगे चलकर एक महान वटवृक्ष में परिणत हुआ और एक विशाल चिकित्सालय का रूप लेकर इसने असंख्य रोगी-नारायणों की सेवा की और अब भी किये जा रहा है। सम्पूर्ण भारत के हजारों लोग अपनी वृद्धावस्था में मुक्तिधाम काशी आकर मुक्ति पाने की आशा में मृत्यु की प्रतीक्षा करते रहते हैं। परन्तु मानव की क्रूरता तथा नियति की निष्ठुरता के फलस्वरूप उनमें से बहुतों की उपरोक्त वृद्धा के समान ही दयनीय अवस्था हो जाती है।

वृद्धा की आपात सेवा करके यामिनीरंजन अपने हरिदास, चारुचन्द्र तथा केदारनाथ आदि मित्रों के पास पहुँचा। इस घटना के किंचित् पूर्व ही इन मित्रों ने मिलकर एक स्वाध्याय-मण्डल का गठन किया था, जिसके माध्यम से वे लोग श्रीरामकृष्ण तथा स्वामी विवेकानन्द से सम्बन्धित साहित्य का अध्ययन और तदनुसार साधना के द्वारा ईश्वरप्राप्ति का प्रयत्न किया करते थे। उपरोक्त घटना का विवरण सुनने के बाद इन युवकों ने चन्दा एकत्र किया और वृद्धा को अस्पताल में भर्ती कराने ले गये। इतना ही नहीं, उन लोगों ने आर्त, असहाय रोगियों तथा निर्धनों की शिवज्ञान से सेवा हेतु Home of Relief (राहतगृह) नाम से एक संस्था भी बनायी। अब ये युवक नियमित रूप से सड़क के किनारे, गलियों, घाटों आदि स्थानों पर पड़े असहाय लोगों को ढूँढ़ते और यथावश्यक उनकी सेवा करते। टायफाइड के एक रोगी को केदारनाथ (बाद में स्वामी अचलानन्द) के मकान में रखकर सर्वप्रथम ऐसी सेवा का सूत्रपात किया गया और यही उनके Home of Service (सेवाश्रम) का प्रथम Indoor (अन्तेवासी) रोगी था। शीघ्र ही ऐसे अन्तर्विभागीय या अन्तेवासी रोगियों के लिए एक और भी बड़े मकान की आवश्यकता महसूस होने लगी और उन लोगों ने ५ रुपये मासिक किराये पर एक मकान ले लिया। वहाँ एक होम्योपैथिक चिकित्सालय भी आरम्भ किया गया। एक कमरे में रोगियों को रखा जाता और दूसरे में होम्योपैथिक चिकित्सालय का काम होता। उसी कमरे में चारुचन्द्र (बाद में स्वामी शुभानन्द) तथा यामिनीरंजन निवास भी करते थे।

शीघ्र ही इन युवकों के उत्साह, निष्काम सेवा तथा अक्लान्त परिश्रम के प्रति लोगों का ध्यान आकृष्ट हुआ और उन्हें नगर के सम्भ्रान्त लोगों की सहानुभूति भी प्राप्त होने लगी। उपरोक्त नागरिकों की सलाह पर ५ सितम्बर १९०० ई. के दिन एक सार्वजनिक सभा का आयोजन हुआ, जिसमें इस संस्था का नाम बदलकर Poor Men's Relief Association (निर्धन-त्राण समिति) कर दिया गया। छह महीनों के भीतर ही इस अस्पताल के बहिर्विभाग तथा अन्तर्विभाग का कार्य इतना बढ़ गया कि जगह की कमी महसूस होने लगी। अतः दशाश्वमेध मार्ग पर एक अन्य मकान किराये पर लिया गया और बाद में इस कार्य को रामापुरा में स्थिर एक अन्य बड़े भवन में स्थानान्तरित कर दिया गया। आठ महीनों के भीतर ही ३३४ महिलाओं तथा ३३० पुरुषों को किसी-न-किसी प्रकार से राहत या सेवा प्रदान की गयी।

१९०२ ई. की फरवरी में स्वामी विवेकानन्द का अन्तिम बार वाराणसी में शुभागमन हुआ। स्वामीजी इस संस्था का कार्य देखकर अत्यन्त सन्तुष्ट हुए। उन्होंने इसका नाम बदलकर Home of Service (सेवाश्रम) कर देने की सलाह देते हुए कहा, "त्राण करनेवाले तुम कौन होते हो ? तुम तो केवल सेवा मात्र कर सकते हो। त्राण करने का अहंकार सर्वनाश कर डालता है। किसी अन्य मनुष्य को अपने से क्षुद्र तथा हीन समझना अहंकार का द्योतक है। तुम्हारा आदर्श दया नहीं, बल्कि 'शिवज्ञान से जीवसेवा' होना चाहिए।" चारुचन्द्र को सम्बोधित करते हुए वे बोले, "गरीबों के लिए एकत्र किये गये प्रत्येक पैसे को अपने रक्त के समान (मूल्यवान) समझना। ऐसा महान कार्य स्थायी तथा सुचारु रूप से वे ही कर सकते हैं, जो सर्वत्यागी हों।"

स्वामीजी ने सेवाश्रम की ओर से एक 'आवेदन' (अपील) भी लिख दिया, जो १९०२ ई. में छपनेवाली सेवाश्रम पहली वार्षिक रिपोर्ट में प्रकाशित किया गया और तब से प्रतिवर्ष की रिपोर्ट के साथ छपता है। स्वामीजी ने अपने गुरुभाई तथा मिशन के परमाध्यक्ष स्वामी ब्रह्मानन्द को यह निर्देश भी दिया कि वे सेवाश्रम पर अपनी विशेष कृपादृष्टि रखें। सेवाश्रम की कार्यकारिणी समिति के एक प्रस्ताव तथा संघाध्यक्ष स्वामी ब्रह्मानन्द जी की स्वीकृति से २३ सितम्बर १९०३ ई. से यह समिति विश्वव्यापी रामकृष्ण मिशन का एक अभिन्न अंग बन गयी तथा 'रामकृष्ण मिशन सेवाश्रम' कहलाने लगी। आज भी यह इसी नाम से विख्यात है।

इसके बाद से सेवाश्रम की प्रगति में तेजी आई। दो दाताओं से अप्रत्याशित रूप से धन मिला। फिर उतने ही अप्रत्याशित रूप से मात्र ६००० रुपयों में एक विशाल भूखण्ड के रूप में सेवाश्रम को एक स्थायी जगह मिल गयी। इस भूखण्ड पर १६ अप्रैल, १९०८ ई. को स्वामी ब्रह्मानन्द जी ने शिलान्यास किया और स्वामी विज्ञानानन्द की व्यवस्था में भवन-निर्माण हो जाने के बाद उन्होंने ही १६ मई, १९१० को उसका उद्घाटन भी किया। ८ नवम्बर १९१२ को माँ श्री सारदा देवी का सेवाश्रम में शुभागमन हुआ। उन्हें पालकी में बैठाकर सभी विभागों तथा वार्डों का परिदर्शन कराया गया। माताजी वहाँ का वातावरण तथा कार्य देखकर अत्यन्त प्रसन्न हुईं और बोलीं, "यहाँ श्रीरामकृष्ण स्वयं विराजित हैं और लक्ष्मीजी ने इस स्थान को अपने निवास के रूप में चुन लिया है।" माँ ने वहाँ सेवा के लिए अपनी ओर से दस रुपये का एक नोट दिया, जो आज भी सेवाश्रम में उनके आशीर्वाद तथा एक परम पावन निधि के रूप में बड़े समादरपूर्वक सुरक्षित रखा हुआ है।

उत्तराखण्ड में

इस बीच कनखल (हरिद्वार) में भी कुछ इसी प्रकार की घटनाएँ हो रही थीं। परिव्राजक के रूप में भ्रमण करते समय स्वामी विवेकानन्द ने हरिद्वार, ऋषिकेश आदि स्थानों का भ्रमण करते समय वहाँ के निवासी साधु-संन्यासियों की दुर्दशा का स्वयं भी अनुभव किया था। वहाँ बीमार होकर वे चिकित्सा के अभाव में प्रायः मरणासन्न हो गये थे। अतः उन्होंने अपने शिष्य स्वामी कल्याणानन्द को कहा, "बेटा, क्या तुम हरिद्वार तथा ऋषीकेश के रोगग्रस्त होनेवाले साधु-संन्यासियों के लिए कुछ कर सकोगे ? बीमार होने पर वहाँ उन्हें देखभाल करनेवाला कोई नहीं रहता। जाओ और उनकी सेवा करो।"

स्वामी कल्याणानन्द ने अपने गुरुदेव के इस आदेश को शिरोधार्य करके १९०१ ई. के जून में हरिद्वार के निकट कनखल नामक गाँव में रोगी-नारायणों की सेवा के रूप में अपना कार्य आरम्भ किया। तीन रुपये मासिक किराये पर दो कमरे लिए गये और उसी में चिकित्सालय, अन्तर्विभागीय वार्ड, दफ्तर और स्वामीजी का निवास आदि सब कुछ हुआ। एक पेटी में दवाइयाँ रखी जाती थीं। स्वामीजी ने भिक्षाटन के द्वारा अपना भरण-पोषण करते हुए वहाँ के साधुओं की सेवा आरम्भ कर दी। वे वहाँ आनेवालों और जो किसी कारणवश नहीं आ सकते थे, उनकी कुटिया में जाकर दवा देने लगे। कुछ ही दिनों बाद स्वामी विवेकानन्द के ही एक अन्य शिष्य स्वामी निश्चयानन्द भी उनसे आ मिले।

शारीरिक परिश्रम तथा कष्टों की उपेक्षा करते हुए दोनों गुरुभाइयों ने कनखल से १५ मील दूर स्थित ऋषीकेश में अपने औषधालय की एक शाखा खोल दी। वे दोनों प्रतिदिन पैदल ही १५ मील आना-जाना किया करते थे। वहाँ साधुओं की चिकित्सा के अतिरिक्त वे ऐसे साधुओं के शरीर की अन्तिम क्रिया भी करते थे, जो एकाकी निवास करते हुए अपनी कुटिया में ही देहत्याग कर देते थे। न केवल साधुओं, बल्कि वे अछूत तथा निम्न जाति के लोगों की भी सेवा-सुश्रूषा किया करते थे। इसके फलस्वरूप एक ओर तो ऋषीकेश के रूढ़िवादी साधु-समाज में उनकी निन्दा होने लगी और अधिकांश साधु उन्हें 'भंगी साधु' कहकर उनकी उपेक्षा करने लगे और दूसरी ओर महामण्डलेश्वर धनराज गिरि आदि कुछ विशिष्ट संन्यासी उनका विशेष आदर तथा सम्मान करने लगे।

एक बार किसी मठ के साधु-भण्डारे में स्वामी कल्याणानन्द तथा निश्चयानन्द नामक इन तथाकथित अछूत साधुओं को आमंत्रित नहीं किया गया था। इस

भण्डारे के विशेष अतिथि महामण्डलेश्वर स्वामी धनराज गिरि को यह बात ज्ञात हुई, तो उन्होंने उन सभी पुरातनपन्थी साधुओं को डाँटते हुए कहा कि वस्तुतः 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म' के वेदान्तोक्त सिद्धान्त का ठीक ठीक पालन तो ये ही दो संन्यासी कर रहे हैं। यदि उन्हें निमंत्रित नहीं किया गया, तो वे स्वयं भी भण्डारे में सम्मिलित नहीं होंगे। इस घटना से साधु-समाज की आँखें खुल गयीं और मिशन के स्वामियों के प्रति उनका वैमनस्य दूर हो गया।

धीरे धीरे इस त्यागमय सेवाव्रत से लोग प्रभावित होने लगे और विभिन्न सूत्रों से तरह तरह की सहायता भी प्राप्त होने लगी। १९०३ ई. में एक भूखण्ड खरीदा गया और स्वामी विज्ञानानन्द जी की योजना तथा निर्देशन के अनुसार दो ब्लाकों वाले एक छोटे-से भवन का निर्माण हुआ। १९०५ ई. में सेवाश्रम अपने निजी भवन में स्थानान्तरित हुआ। १९११ ई. में २० शय्याओं का एक वार्ड बना और १९१३ ई. में 'क्षयरोग विभाग' का उद्घाटन हुआ। १९२२ ई. तक शय्याओं की संख्या ६६ हो चुकी थी।

कहने की आवश्यकता नहीं कि इस सेवाश्रम की समस्त सेवाएँ निःशुल्क थीं और इसका सारा कार्य दान से ही चलता था, भले ही वह दान चार आने का हो या हजारों रुपयों का। इसमें सेवा करनेवाले संन्यासी अपना निर्वाह माधुकरी भिक्षा से किया करते थे। स्वामी जपानन्द तथा ब्रह्मचारी सुरेन भी भिक्षा करने जाते और सेवाकार्य में योगदान करते। परन्तु इस प्रकार भिक्षाटन तथा सेवाश्रम का संचालन – दोनों एक साथ चलाने से कुछ व्यावहारिक समस्याएँ उपस्थित होने लगीं। यह बात जब मिशन के महासचिव स्वामी सारदानन्द जी के कानों तक पहुँची, तो उन्होंने इस पर विचार करने के बाद, कार्य को दक्षतापूर्वक तथा सुचारु रूप से चलाने के लिए भिक्षाटन को बन्द कर देने का निर्देश दिया। इस प्रकार १९२१ ई. से सेवाश्रम में नियमित भिक्षाटन की परम्परा समाप्त हो गयी। परन्तु स्वामी कल्याणानन्द तथा निश्चयानन्द जी को भिक्षाटन के इस अद्भुत निर्भरता के भाव से वंचित होने जाने पर खेद ही हुआ था।

वृन्दावन में

अगला सेवाश्रम वृन्दावन में प्रारम्भ हुआ, जहाँ हजारों तीर्थयात्रियों की चिकित्सा का कोई प्रबन्ध नहीं था। १९०७ ई. में वाराणसी के सेवाश्रम से प्रेरणा लेकर यज्ञेश्वर दत्त तथा उनके पुत्र के नेतृत्व में वहाँ के स्थानीय लोगों ने एक सेवाश्रम आरम्भ किया और बेलुड़ मठ से ब्रह्मचारी हरेन्द्र ने आकर उनका साथ

दिया। प्रारम्भ में श्रीरामकृष्ण के गृही शिष्य बलराम बोस के 'कालाबाबू का कुंज' में ही इसका कार्य चलता था और रोगियों को भी वहीं रखा जाता था। परन्तु अगले वर्ष से रामकृष्ण मिशन ने इसकी व्यवस्था का भार स्वीकार कर लिया। १९१५ ई. तक अन्तेवासी रोगियों के लिए शय्याओं की संख्या ४ से बढ़कर १५ तक पहुँच गयी थी। १९१५ ई. में ८.३२ एकड़ जमीन खरीदी गयी और उस पर एक अस्थायी भवन का निर्माण कर लेने के बाद सेवाश्रम को 'कालाबाबू का कुंज' से वहीं स्थानान्तरित कर दिया गया। बाद में वहाँ पुरुषों तथा महिलाओं के लिए अलग अलग वार्डों का निर्माण हुआ।

अन्य स्थानों में

अगला सेवाश्रम १९०८ ई. में इलाहाबाद में खुला। उसके बाद कोन्टाई (१९१३), लखनऊ (१९१४), सोनारगाँव, ढ़ाका (१९१५), बाँकुड़ा (१९१७), गड़बेता, मिदनापुर आदि अन्य स्थानों में भी सेवाश्रमों का उद्भव हुआ। ये सेवाश्रम रामकृष्ण मिशन की चिकित्सा-सेवाओं के अत्यन्त महत्वपूर्ण अंग हैं। परवर्ती काल में मिशन के विभिन्न केन्द्रों में खुलनेवाले औषधालय, चिकित्सालय, पॉली-क्लीनिक, मेडिकल इंस्टीटयूट आदि ने चाहे जो भी रूप धारण किया हो, वे सभी मानो इस सेवाश्रम-आन्दोलन की ही शाखा-प्रशाखाएँ थीं।

सेवाश्रम की अवधारणा अत्यन्त सरल होती है। इसमें साधु-संन्यासी स्वयं ही रोगियों की चिकित्सा तथा परिचर्या करते हैं। हिन्दू संन्यास-परम्परा में पहली बार ऐसा हो रहा है कि साधु-संन्यासी ईश्वर का केवल अपने हृदय या देवालय में दर्शन नहीं करते, अपितु वे पीड़ित तथा दुखी नारायण की सेवा-सुश्रूषा के द्वारा भी उनकी आराधना करते हैं। इस तरह के कार्यों के द्वारा मानो इन संन्यासियों ने उन्मुक्त भाव से यह घोषणा की, "निर्धन, दुखी, अनाथ, असहाय, रोगी हमारे आराध्य देव हैं।" सड़क के किनारे उपेक्षित पड़े लोग उनके प्रमुख उपास्य थे। स्वामी शुभानन्द, स्वामी अचलानन्द, स्वामी कल्याणानन्द और स्वामी निश्चलानन्द के दृष्टान्त से प्रेरित होकर अनेक युवा कार्यकर्ता – चाहे वे साधु हों या गृहस्थ, डॉक्टर हों या अप्रशिक्षित – निःस्वार्थ भाव से अपनी निःशुल्क सेवाएँ प्रदान करने लगे।

लेकिन इसका अर्थ यह नहीं कि सेवाश्रम का कार्य सदा निर्विघ्न और सरलता के साथ चलता रहा हो। सत्य तो यह है कि इस शताब्दी के प्रारम्भिक दशकों के दौरान सर्वदा आर्थिक कठिनाई बनी रहती थी। प्रथम विश्वयुद्ध (१९१४-१९) का काल विशेष कठिनाइयों से भरा था। और फिर ऐसे लोग भी थे, जो सहायता करने

में हिचकते थे। इस सन्दर्भ में कनखल सेवाश्रम की एक घटना स्मरणीय है। एक व्यक्ति ने अपने पिता की स्मृति में एक वार्ड बनवाने के लिए धन दिया। लेकिन दान देने के कुछ दिनों बाद ही उसके मन में अपने कार्य के औचित्य और मिशन के स्थायित्व के प्रति शंका होने लगी। अतः वह ऐसी शर्तें रखने लगा, जिन्हें स्वीकार करना सेवाश्रम के लिए सम्भव ही न था। बाध्य होकर सेवाश्रम को कहीं से ऋण लेकर उसका धन लौटाना पड़ा। परन्तु यह भी सत्य है कि संन्यासी सदा मानवीय सहायता पर निर्भर नहीं करते। उनका एकमात्र सहारा भगवान ही होता है। उन्हें परमात्मा में पूर्ण विश्वास था और आर्थिक कठिनाई के अवसरों पर वे लोग व्यक्तिगत तथा सामूहिक रूप से आत्मनिरीक्षण करके यह जानने का प्रयत्न करते कि कहीं उनकी सेवा में कोई त्रुटि तो नहीं हो रही है, या फिर कहीं वे अपने आदर्श से च्युत तो नहीं हो रहे हैं ? और ऐसा प्रायः ही होता कि त्रुटिमार्जन के साथ-ही-साथ उन्हें सहायता प्राप्त होने लगती और उनकी आर्थिक कठिनाई दूर हो जाती।

सेवाश्रम में सेवारत कार्यकर्ताओं के मनोभाव का एक सुन्दर दिग्दर्शन हम श्री 'म' के प्रति कहे गये स्वामी निश्चयानन्द के शब्दों में पाते हैं। स्वामी निश्चयानन्द को दिन-रात काम में निरत देखकर एक दिन श्री 'म' ने उनसे कहा, "सुनो, निश्चय! श्रीरामकृष्ण कहा करते थे कि साधु-जीवन का आदर्श केवल कर्म नहीं, बल्कि भगवद्दर्शन है।" निश्चयानन्दजी ने विनम्रतापूर्वक कोई उत्तर नहीं दिया। लेकिन श्री 'म' ने जब यही बात दो-तीन बार कही, तो निश्चयानन्द अपने को रोक नहीं सके। कातर होकर वे रो पड़े और हाथ जोड़कर बोले, "मैं स्वामीजी (विवेकानन्द) का क्रीतदास हूँ। मैं कर्म के अतिरिक्त अन्य कोई साधना नहीं जानता। स्वामीजी ने मुझे यही करने का आदेश दिया था और मैंने इसी व्रत का पालन करने की प्रतिज्ञा की है।" यह सुनकर श्री 'म' न केवल शान्त हो गये, बल्कि उनका भाव समझकर उनसे क्षमायाचना भी की।

एक दूसरे संन्यासी बनारस-सेवाश्रम के खेत में आलू, गोभी आदि की खेती करते थे। एक दिन किसी ने उनसे पूछा – आप संन्यासी होकर भी एकान्त में गीता, भागवत आदि पाठ या ध्यान-जप न करके ऐसी कड़ी धूप में यह खेती का काम क्यों कर रहे हैं। उन स्वामीजी ने निर्द्वन्द्व भाव से तत्काल उत्तर दिया, "क्यों ? मैं यहाँ गोभी, आलू उगा रहा हूँ, जो रोगी-नारायण खाएँगे।" एक अन्य संन्यासी ने अपना सारा जीवन रोगी-नारायण के घावों की मरहम-पट्टी करते हुए बिता दिया। पचास वर्षों से भी अधिक काल तक, प्रतिदिन ६ घण्टे खड़े रहकर मरहम-पट्टी करने से

उनके घुटने अकड़ गये थे और वृद्धावस्था में वे अपने घुटनों को मोड़ने में असमर्थ हो गये थे। इन संन्यासियों के लिए कर्म और उपासना में कोई अन्तर नहीं था और उनके सम्मुख 'आत्मनो मोक्षार्थं जगद्धिताय च' का आदर्श जीवन्त हो उठा था।

पूर्व के इन सेवाश्रमों का एक बहुत बड़ा सौभाग्य था कि उन्हें रामकृष्ण मिशन के अध्यक्ष स्वामी ब्रह्मानन्द जी तथा श्रीरामकृष्ण के अन्य महान संन्यासी शिष्यों से आशीर्वाद तथा मार्गदर्शन प्राप्त होता रहता था। ये महान संन्यासीवृन्द समय समय पर सेवाश्रमों में जाकर वहाँ के सेवाव्रतियों को प्रोत्साहित किया करते थे। स्वामी तुरीयानन्द जी पहले कुछ काल तक कनखल में रहे और उसके बाद अपने जीवन के कुछ अन्तिम वर्ष उन्होंने काशी सेवाश्रम में बिताये। इन महापुरुषों की उपस्थिति मात्र से सेवाकर्मियों का मन उच्च आध्यात्मिक स्तर में आरूढ़ हो जाता था। श्रीरामकृष्ण के अन्तरंग पार्षद तथा सेवाश्रम के पुरोधा स्वामीगण कार्यकर्ताओं को सदैव यह निर्देश दिया करते थे कि वे अपना आध्यात्मिक भाव बनाये रखें तथा यह सोचें कि वे नारायण की ही पूजा कर रहे हैं, अन्यथा यह कर्म भी एक समान्य लौकिक कर्म में परिणत हो जायगा। स्वामी अचलानन्द कभी भी रोगी शब्द का प्रयोग नहीं करते थे। इसके स्थान पर वे सदैव 'नारायण' कहते और चाहते कि दूसरे लोग भी ऐसा ही करें।

परवर्ती घटनाएँ

सेवाश्रमों के प्रारम्भ तथा विकास के क्रम के बाद रामकृष्ण मिशन की चिकित्सा-सेवाओं का दूसरा चक्र आरम्भ हुआ। इसके अन्तर्गत अस्पताल, आउटडोर चिकित्सालय, आदि आरम्भ किये गये, ताकि इनके माध्यम से समाज की कुछ विशिष्ट चिकित्सकीय आवश्यकताओं की पूर्ति की जा सके। ... दिल्ली में मुख्यतः क्षय-निदान के लिए एक दातव्य चिकित्सा केन्द्र की शुरुआत हुई और राँची में एक क्षय-सेनेटोरियम की स्थापना हुई। इसी क्रम में पुरातन सेवाश्रमों को भी समयानुकूल स्तर पर विकसित किया गया।

मिशन के एक संन्यासी स्वामी दयानन्द जी जब अमेरिका में थे, तब वे वहाँ चिकित्सा-विज्ञान की प्रगति देखकर अत्यन्त प्रभावित हुए थे। भारत लौटकर उन्होंने कुछ विरोधों के बावजूद कलकत्ता में 'शिशुमंगल' के नाम से एक सात शय्याओं का केन्द्र आरम्भ किया, जिसका उद्देश्य था – गर्भवती माताओं की प्रसवपूर्व तथा प्रसवोपरान्त सुरक्षा तथा नवजात शिशु की देखभाल। अपनी दक्षता तथा उच्चकोटि की समर्पित सेवा के लिए शीघ्र ही यह संस्था विख्यात हो गयी।

१९३९ ई. तक इसमें पचास शय्याएँ तथा इसका अपना निजी भवन हो गया था। १९५६ ई. में इसे एक सामान्य चिकित्सालय में परिवर्तित करने के बाद अगले वर्ष इसे 'सेवा प्रतिष्ठान' का नाम दे दिया गया। अब यह ५५० शय्याओं का एक विशाल अस्पताल है, जिसमें सामान्य चिकित्सा के अतिरिक्त परिचारिकाओं (नर्सों) का प्रशिक्षण, स्नातकोत्तर चिकित्सा महाविद्यालय, शोध-केन्द्र तथा सार्वजनिक-सेवा विभाग भी हैं।

भारत में बड़ी संख्या में लोग क्षय रोग के शिकार हो जाते हैं। इसके निराकरण हेतु रामकृष्ण मिशन ने एक क्षय चिकित्सालय या सेनेटोरियम शुरु किया। १९३९ ई. में इसके लिए राँची से १० मील दूर स्थिर 'डुंगरी' नामक स्थान में २४० एकड़ भूमि प्राप्त हुई। १९५१ ई. में ३२ शैय्याओं से आरम्भ करके अब इसमें २८० शय्याएँ हैं। दिल्ली में १९४८ ई. से एक क्षयरोग चिकित्सालय कार्यरत है, जहाँ एक उच्चकोटि की निदान-प्रयोगशाला है तथा रोगियों के घरों पर भी दवाइयाँ पहुँचाने की व्यवस्था है। उपरोक्त दोनों की क्षय चिकित्सालय अपनी कुशलता के कारण सम्पूर्ण भारतवर्ष में विख्यात हैं।

जैसा कि संकेत किया गया है, इस बीच पुराने सेवाश्रमों का भी समयानुकूल विकास होता रहा है। उनमें नये भवनों का निर्माण तथा आधुनिक निदानोपयोगी यंत्रों आदि का समावेश किया जाता रहा है। अब वाराणसी के सेवाश्रम में एक अत्याधुनिक शल्य-चिकित्सा कक्ष, एक उच्चकोटि का निदान कक्ष, अल्ट्रासाउन्ड, एक्स-रे, एण्डोस्कोपी आदि सहित २३० शय्याएँ हैं और अनेक विशेषज्ञों तथा अति विशिष्ट विशेषज्ञों की सेवाएँ भी उपलब्ध हैं। इसी तरह कनखल सेवाश्रम भी आधुनिकीकरण की प्रक्रिया से गुजरता रहा है। अब वहाँ १२२ शय्याएँ हैं। वृन्दावन में १९४३ ई. में एक नेत्र विभाग आरम्भ किया गया, जिसे विशेष ख्याति मिली है। इन संस्थाओं को बीच बीचमें सरकारी अनुदान भी प्राप्त होते रहे हैं। साथ ही जनता की ओर से दान भी प्राप्त होता रहता है। अन्यथा इतनी बड़ी संस्थाओं को चला पाना टेढ़ी खीर है। सरकार या उदारमना लोगों की सहायता मिले या न मिले, इसके बावजूद ये संस्थाएँ अधिकांशतः निःशुल्क सेवाएँ देने में समर्थ रही हैं।

पूर्णरूपेण चिकित्सा को ही समर्पित इन केन्द्रों के अतिरिक्त रामकृष्ण मिशन के अन्य अनेक केन्द्र भी दातव्य-चिकित्सालय चलाते हैं, जिनमें एलोपैथी तथा होम्योपैथी चिकित्सा की जाती है। ये केन्द्र भी क्रमशः सुव्यवस्थित तथा उपयुक्त

यंत्रों से सम्पन्न होकर श्रेष्ठ उपचार-केन्द्रों में परिणत हो गये हैं। चेन्नै (मद्रास) के रामकृष्ण मठ से संलग्न चिकित्सालय इसका ज्वलन्त दृष्टान्त है। कुछ अन्य केन्द्रों की अपनी अलग ही विशिष्टताएँ हैं। उदाहरणार्थ – कहीं कहीं आयुर्वेदिक, एक्यूपंचर, फिजियोथेरेपी या मनोरोग विभाग भी हैं। इसी क्रम में आधुनिकतम विकास है – कई स्थानों में चल-चिकित्सा केन्द्रों का आरम्भ होना, जो चिकित्सा सुविधाओं से वंचित आदिवासी तथा ग्रामीण अंचलों तक पहुँचते हैं।

रामकृष्ण मिशन के प्रत्येक चिकित्सा-केन्द्र का अपना अलग ही इतिहास है, जिसे आद्यन्त रूप से प्रस्तुत करना यहाँ सम्भव नहीं है। अतः केवल कुछ प्रारम्भिक, प्रमुख तथा प्रातिनिधिक संस्थाओं का ही वर्णन किया गया। विस्तार के भय से सेवा-विषयक आँकड़ों को छोड़ दिया गया है।

रामकृष्ण मिशन के केन्द्रों की यह विशेषता रही है कि वे तकनीकी तथा मानवीय दृष्टि से भी अत्यल्प व्यय के द्वारा उच्चस्तरीय सेवा पहुँचाने तथा श्रेष्ठ परिणाम दिखाने में समर्थ हुए हैं। यह कुछ हद तक स्थानीय चिकित्सकों आदि की अवैतनिक सेवाओं की वजह से ही सम्भव होता रहा है। साधु-संन्यासी व्यक्तिगत रूप से रोगी-नारायणों की खोज-खबर लेते हैं, जिसके फलस्वरूप ही मितव्ययिता तथा कार्यकुशलता सम्भव हो पाती है। कई केन्द्रों में तो संन्यासीगण न केवल प्रशासनिक कार्य, अपितु इन्जेक्शन लगाना, मरहम-पट्टी तथा परिचर्या आदि का कार्य स्वयं ही करते हैं। इनमें से कुछ तो स्वयं भी डॉक्टर हैं। शिवज्ञान से जीवसेवा के भाव से अनुप्राणित, कार्य पर व्यक्तिगत रूप से ध्यान देनेवाले और सभी जाति, कुल तथा धर्म के लोगों के प्रति समान रूप से सहानुभूति-सम्पन्न इन संन्यासियों की उपस्थिति होने के कारण रोगी इन संस्थाओं में स्वाभाविक रूप से ही स्वयं को सुरक्षित महसूस करता है।

उपसंहार

पिछले कुछ दशकों के दौरान चिकित्सा विज्ञान के क्षेत्र में कुछ आमूल परिवर्तन दृष्टिगोचर हो रहे हैं। ऐसे नये नये रोग उभर रहे हैं, जिनका पहले कहीं पता नहीं था। स्वास्थ्य तथा चिकित्सा के विषय में भी नये सिद्धान्तों तथा मान्यताओं का प्रादुर्भाव हुआ है। इन विभिन्न परिवर्तनों को संक्षेप में तीन शब्दों में व्यक्त किया जा सकता है – व्यवसायीकरण, तकनीकीकरण और विश्वीकरण (Commerciali-sation, Technicalisation and Globalization)। चिकित्सा विज्ञान वस्तुतः एक मानवीय विज्ञान तथा कला है और ऐसा ही होना भी चाहिए, परन्तु खेद की बात यह

है कि अब ऐसी बात नहीं है। इसके स्थान पर चिकित्सा-विज्ञान धनोपार्जन का एक साधन मात्र बन गया है। चिकित्सा व्यवसाय के इसी पक्ष की श्रीरामकृष्ण ने स्वयं भी बड़ी कठोर निन्दा की थी। तकनीकी प्रगति ने चिकित्सा के कुछ क्षेत्रों में चमत्कार कर जाले हैं , लेकिन इसके फलस्वरूप चिकित्सा अत्यन्त मँहगी हो गयी है और केवल धनाढ्य तथा अभिजात वर्ग के ही बूते की चीज हो गयी है। सामान्य व्यक्ति तो इन सुविधाओं को पाने की कल्पना भी नहीं कर सकता। दूसरी ओर भारत जैसे विकासशील देश में निर्धनता तथा अस्वच्छता से जुड़े हुए मलेरिया, राजयक्ष्मा तथा छूत से फैलनेवाले अन्य संक्रामक रोग विकराल रूप धारण करते जा रहे हैं।

रामकृष्ण मिशन की चिकित्सा सेवाओं की शताब्दी का एक स्वर्णिम इतिहास है। उसने अत्यन्त कठिन परिस्थितियों के बीच यह उपलब्धि की है। आनेवाली शताब्दी में मिशन को कुछ भिन्न प्रकार की समस्याओं का सामना करना होगा। उसे न्यूनतम व्यय पर श्रेष्ठतम चिकित्सा को, तकनीकी प्रगति के लाभ को देश के सुदूरतम कोने तक के निर्धनतम व्यक्ति के पास पहुँचाना होगा और इसके साथ-ही-साथ व्यावसायिक चिकित्सकों को भी प्रेरणा देकर निःस्वार्थ सेवा में लगाकर मानवीयता का उच्च स्तर बनाये रखना होगा। मिशन ने ये सारे कार्य किये हैं, कर रहा है और भविष्य की अनेक शताब्दियों तक ऐसा ही करने की सामर्थ्य रखता है।

आज रामकृष्ण मिशन की चिकित्सा-सेवाओं का दायरा व्यप्पक है; इसके अन्तर्गत १४ अस्पताल, ९२ चिकित्सालय, २८ चल-चिकित्सालय तथा ५ परिचारिका (नर्सेज) प्रशिक्षण केन्द्र कार्यरत हैं। इनमें साधारण-से होम्योपैथिक दवाखाने भी हैं और अत्याधुनिक अस्पताल भी हैं। लेकिन मिशन अपने चिकित्सा-केन्द्रों अथवा उनसे लाभ उठानेवाले रोगियों की बड़ी संख्या पर गर्व नहीं करता और न ही उसे किसी केन्द्रविशेष की तकनीकी विशेषज्ञता पर ही गर्व है। उसे तो गर्व है उस भाव पर, जिस आराधना के भाव से रोगी-नारायणों की सेवा की जाती है। एक रोगी की ठीक ठीक नारायण-ज्ञान से सेवा, उस भाव से विहीन रहते हुए हजारों रोगियों की सेवा से कहीं श्रेयस्कर है।

वेदकालीन नारी

डॉ. शोभा निगम

यह एक कटु सत्य है कि आम भारतीय परिवारों में बहुओं का दर्जा बड़ा निम्न होता है। घर की दासी और उसमें ज्यादा फर्क नहीं होता। कुछ दशक पूर्व की मध्यवर्गीय बहुओं की नियति तो और भी अधिक दर्दनाक थी। घर की चहारदीवारी की कैद तो उसके चारों ओर होती ही थी, घर में भी हाथ भर का घूँघट उसके समूचे वजूद को ढाँके रहता था। आज जरूर वह बहुत हद तक इनसे आजाद हो गई है, परन्तु दहेज के नाम पर आज बहुओं की होनेवाली हत्याओं का लगातार बढ़ता ग्राफ क्या यह सिद्ध नहीं करता कि आज भी भारतीय परिवारों में बहुओं की कोई इज्जत नहीं है ? आश्चर्य की बात तो यह है कि हम उन आर्यों की सन्तान हैं, जिनकी दृष्टि में बहुओं का स्थान परिवार में सबसे महत्वपूर्ण हुआ करता था। वेदों के अनेक सूक्त इस बात के प्रमाण हैं। ऋग्वेद के निम्नलिखित सूक्त (१/१२३) से स्पष्ट होता है कि वे कितने सम्मान से नववधू को ससुराल लाते थे। वे उसके आगमन को वैसे ही समझते थे, जैसे अन्धकार को भेदते हुए उषा का पृथ्वी पर आगमन होता है। जैसे उषा सूर्य की भगिनी है, वैसे ही वे वधू को श्रेष्ठ भ्राता की भगिनी कहते थे अर्थात् वे वधू के मातृपक्ष का भी पूरा सम्मान करते थे।

यहाँ अन्तिम ऋचा विशेष रूप से द्रष्टव्य है, जिसमें वधू से उत्तम ज्ञानोपदेश देने की तथा परिवार के अन्य जनों का अज्ञान नष्ट करने की प्रार्थना की गयी है। क्या इससे यह सिद्ध नहीं होता कि हमारी पूर्वज स्त्रियाँ शिक्षित हुआ करती थीं और उनकी शिक्षा परिवार में महत्व रखती थी ?

पृथू रथो दक्षिणाया अयोज्यैनं देवासो अमृतासो अस्थुः।
कृष्णादुदस्थादर्या विहायाश्चिकित्सन्ती मानुषाय क्षयाय ।।१।।

– यज्ञ में दाएँ भाग में विराजने वाली वधू का विशाल रथ जोड़ा जाय और उसमें कभी नाश न होनेवाले दीप्तियुक्त रत्न लगाये जायँ। गृह की स्वामिनी नववधू वियोग से शोकातुर होते हुए पितृगृह से अपने पति-सम्बन्धी गृहों के प्राप्त होने के लिए विशेष आदरयुक्त होकर उस रथ पर चढ़े।

पूर्वा विश्वस्माद्भुवनादबोधि जयन्ती वाजं बृहती सनुत्री।
उच्चा व्यख्यद्युवतिः पुनर्भूरोषा अगन्प्रथमा पूर्वहुतौ ।।२।।

– प्रभात बेला के समान उत्तम कमनीय गुणों से युक्त कन्या समस्त परिवार से पूर्व जागे। वह ऐश्वर्य को विजय करनेवाली सेवा के समान सबके चित्तों पर विजय प्राप्त करती हुई, बड़ी गुणवती, यथायोग्य भोजन, मान, आदर का विभाग करनेवाली युवती उत्कृष्ट गुणों को प्रकाशित करे। वह उषा के समान पुनः पुनः प्रतिदिन सदा नये प्रसन्न रूप में प्रकट होती हुई अपने पूर्व विद्यमान ज्ञानवृद्ध तथा वयोवृद्ध के आदर-सत्कार के कार्य को प्रमुखता से करे।

गृहगृहमहना यात्यच्छा दिवेदिवे अधि नामा दधाना।
सिषासन्ती द्योतना शश्वदागादग्रमग्रमिद्भजते वसूनाम ।।३।।

– प्रकाश से फैलनेवाली प्रभात बेला जिस प्रकार प्रतिदिन नवरूप धारण करती हुई प्रत्येक गृह में प्राप्त होती है, उसी प्रकार कभी भी प्रताड़ना एवं व्यथा न पाने योग्य अतिकोमल स्वभाव की नववधू प्रतिदिन अपने विनयशील स्वभाव को अधिकाधिक धारण करती हुई प्रत्येक गृह को भलीभाँति आदर सहित प्राप्त होती हुई और उषा के समान ही अपने गुणों को प्रकाशित करती हुई, समस्त ऐश्वर्यों का सेवन करती हुई, विद्वान नवयुवकों में सवश्रेष्ठ युवक को ही प्राप्त हो।

भगस्य स्वसा वरुणस्य जामिरूषः सूनृते प्रथमा जरस्व।
पश्चा स दघ्या यो अघस्य धाता जयेम तं दक्षिणया रथेन ।।४।।

– हे प्रभात बेला के समान कान्तिमती नववधू ! तू सूर्य की बहन उषा के समान ही साक्षात गृहलक्ष्मी है। उषा जिस प्रकार अन्धकार को दूर करनेवाली सूर्य की भगिनी है, उसी प्रकार तू भूश्रेष्ठ भ्राता की भगिनी है। हे शुभ वाणी बोलनेवाली ! तू सर्वश्रेष्ठ होकर उत्तम गुणों का बखान कर (या स्वयं उत्तम स्तुति को प्राप्त कर) और जो पाप का पोषण करनेवाला है, उसका तिरस्कार कर। उसको हम लोग अति बलवती सेना से अथवा रथबल से विजय करें।

ऋतस्य रश्मिमनुयच्छमाना भद्रंभद्रं क्रतुमस्मासु धेहि।
उषो नो अद्य सुहवा व्युच्छास्मासु रायो मघवत्सु च स्युः ।।५।।

– हे प्रभात बेला के समान कान्तिमती ! जिस प्रभात बेला सूर्य की किरण के अनुकूल प्रकाश करती हुई, हममे अति कल्याणजनक ज्ञान, कर्म, बल धारण कराती है, उसी प्रकार सत्य, ज्ञानमय वेद के ज्ञानप्रकाश के अनुसार उद्योग करती हुई तू हममें अति सुख और कल्याणजनक यज्ञ आदि कर्म, धर्माचरण को धारण करा। तू आज और आज के समान सदा उत्तम ज्ञानोपदेश से युक्त होकर हमारे बीच अज्ञान का नाश कर और हम नाना ऐश्वर्यवानों को और भी विविध ऐश्वर्य प्राप्त हों। ❑

सावरकर-बन्धुओं के जीवन में श्रीरामकृष्ण-विवेकानन्द

स्वामी विदेहात्मानन्द

गणेश, विनायक और नारायण – ये तीनों भाई महाराष्ट्र में 'सावरकर-बन्धु' के नाम से सुविख्यात हैं। तीनों ने ही विदेशी शासन के विरुद्ध क्रान्तिकारी आन्दोलन, हिन्दू समाज के सुधार तथा संगठन और साहित्य के क्षेत्रों में उल्लेखनीय योगदान किया। इनमें सर्वाधिक प्रसिद्ध हैं – मझले भाई विनायक दामोदर, जो 'स्वातंत्र्यवीर' अथवा केवल 'वीर सावरकर' के रूप में सुपरिचित हैं। इनके जीवन तथा कार्यों की एक संक्षिप्त रूपरेखा इस प्रकार है –

ज्येष्ठ भ्राता गणेश (१८७९-१९४५ ई.) का बचपन से ही धर्म की तरफ रुझान था और भगवद्‌गीता के वे विशेष अनुरागी थे। किशोरावस्था में ही उनकी योग तथा संन्यास की ओर प्रवृत्ति हुई, परन्तु परवर्ती जीवन में वे सक्रिय राजनीति तथा क्रान्तिकारी आन्दोलन में भाग लेने लगे। १९०० ई. में 'मित्रमेला' नाम से एक गुप्त समिति की स्थापना हुई और तभी से वे इसके आधार-स्तम्भ बन गये। उसी वर्ष सरकारी निषेधाज्ञा को नज़रन्दाज़ करते हुए उन्होंने मित्रमेला की ओर से एक आम सभा का आयोजन किया। इसके फलस्वरूप उन्हें गिरफ्तार करके मुकदमा चलाया गया और सजा भी सुना दी, परन्तु उच्चतर न्यायालय ने उनकी यह सजा माफ कर दी। आगामी वर्ष नासिक में उन पर पुनः 'वन्देमातरम्' सम्बन्धी अभियोग लगा और उन्हें एक माह कारावास की सजा मिली। १९०९ ई. में उन्हें अत्यन्त गम्भीर आरोप के साथ गिरफ्तार किया गया। उनके घर से विस्फोटक निर्माण करने की प्रक्रिया से सम्बन्धित कागजात और उन्हीं के द्वारा प्रकाशित 'लघु अभिनव भारतमाला' नामक काव्यग्रन्थ की प्रतियाँ बरामद हुईं। इस पुस्तक में आम जनता से स्वाधीनता के लिए युद्ध छेड़ने का आह्वान किया गया था। न्यायालय ने इसे राजद्रोहात्मक साहित्य माना और उन्हें आजन्म कालापानी की सजा देते हुए उनकी सारी सम्पत्ति भी जप्त कर ली। इस अमानुषिक दण्ड की महाराष्ट्र के युवकों पर भयानक प्रतिक्रिया हुई और इसके लिए उत्तरदायी नासिक के जिलाधीश मि. जैक्सन की सरेआम हत्या कर दी गयी। बाद में इस हत्या तथा उससे सम्बन्धित षड्‌यंत्र के मामले में भी गिरफ्तारियाँ हुईं। इस मुकदमे में भी तीन लोगों को फाँसी

तथा तीन अन्य को आजन्म कारावास की सजा मिली। १४ वर्ष तक जेल की सजा भोगने के बाद अस्वस्थता के कारण गणेशजी को कारामुक्त कर दिया गया। बाद में उन्होंने और भी कई बार जेलयात्रा की। मराठी भाषा में उन्होंने 'वीर वैरागी', 'राष्ट्रमीमांसा', 'नेपाली आन्दोलन का इतिहास' आदि कई महत्वपूर्ण ग्रन्थों की रचना की थी।

मझले भाई विनायक (१८८३-१९६६ ई.) का जीवनक्रम कुछ इस प्रकार था। नासिक जिले के भगूर ग्राम में उनका जन्म हुआ। नौ वर्ष की आयु में उनकी माता ने परलोकगमन किया। ग्यारह वर्ष की आयु में वे शिक्षा पाने नासिक गये। वहीं पर १९०० ई. में उन्होंने 'मित्रमेला' नामक एक संगठन बनाया, जिसका उद्देश्य था – अपने सदस्यों का चरित्रनिर्माण करना और देशभक्ति, स्वाधीनता तथा आत्मबलिदान की भावना में उन्हें अनुप्राणित करना। अगले वर्ष विनायक ने मैट्रिक की परीक्षा दी और उसी वर्ष उनका विवाह भी हो गया। तदुपरान्त उन्होंने पूना जाकर वहाँ के फर्गुसन कॉलेज में आगे की पढ़ाई जारी रखी। यहाँ भी उन्होंने 'मित्रमेला' का गठन किया। यह संस्था क्रमशः अत्यन्त लोकप्रिय हुई और इसकी शाखाओं तथा सदस्यों की संख्या में उत्तरोत्तर वृद्धि होती गयी। १९०५ ई. में बी. ए. की पढ़ाई करते समय ही उन्होंने लोकमान्य तिलक की अध्यक्षता में विदेशी वस्तुओं के बहिष्कार का आन्दोलन आरम्भ किया तथा विदेशी वस्त्रों की होली भी जलायी। उनके इस कृत्य पर उन्हें कॉलेज की ओर से दण्डित भी किया गया। उसी वर्ष बी.ए. की परीक्षा में उत्तीर्ण हो जाने के बाद उन्होंने विभिन्न स्थानों पर कार्यरत अपनी संस्था की विभिन्न शाखाओं को एक सूत्र में बाँधने के लिए एक गुप्त सभा का आयोजन किया, जिसमें भाग लेने के लिए लगभग दो सौ प्रतिनिधि आये थे। इस सभा में उन्होंने 'मित्रमेला' को अखिल भारतीय रूप देते हुए इसे 'अभिनव भारत' का नया नाम दिया। अब वे इसी के तत्त्वावधान में भ्रमण करते हुए जगह जगह व्याख्यान देने तथा प्रचार करने लगे। विनायक की इन गतिविधियों से अंग्रेज सरकार भी बेखबर नहीं थी और अब उन्हें राजद्रोही मानकर उनकी गिरफ्तारी पर विचार किया जाने लगा।

इसी काल में विनायक को पं. श्यामजी कृष्ण वर्मा की ओर से छात्रवृत्ति की स्वीकृति मिली और ९ जून, १९०६ ई. को उन्होंने कानून का अध्ययन करने के लिए इंग्लैण्ड की ओर प्रस्थान किया। परन्तु भारत छोड़ने के पूर्व वे अपनी अनुपस्थिति में 'अभिनव भारत' के सुचारु रूप से परिचालन की व्यवस्था करते गये। पं. श्यामजी

कृष्ण वर्मा ने लन्दन में 'इण्डिया हाउस' नामक एक संस्था स्थापित की थी और उसके तहत कुछ पत्र-पत्रिकाएँ भी चला रहे थे। वहाँ पहुँचकर विनायक अपनी पढ़ाई के साथ-ही-साथ इस संस्था की गतिविधियों में भी सक्रिय रूप से योगदान करने लगे। वे इण्डिया हाउस में व्याख्यान देते और उसकी पत्रिकाओं में लेख भी लिखते। कुछ काल बाद इस संस्था को चलाने का सारा भार उन्हीं के कन्धों पर आ पड़ा। वे इण्डिया हाउस की ओर छोटी छोटी पुस्तिकाएँ लिखकर उनका लन्दन में वितरण कराया करते थे। १९०७ ई. में उन्होंने स्वाधीनता के प्रथम युद्ध की स्वर्णजयन्ती मनाने का आयोजन किया। इस अवसर पर उन्होंने एक बृहदाकार ग्रन्थ भी लिखा, जो बाद में '१८५७ का स्वातंत्र्य समर' नाम से प्रसिद्ध हुआ।

फिर इंग्लैण्ड में अपने 'अभिनव भारत' की शाखा खोलने के बाद विनायक ने क्रमशः फ्रांस तथा जर्मनी में भी इसकी शाखाएँ आरम्भ कीं। कुछ चुने हुए युवकों को उन्होंने बम निर्माण की कला का प्रशिक्षण लेने रूस भेजा, परन्तु वहाँ पहुँचने के पूर्व फ्रांस में ही उनकी एक रूसी युवक के साथ भेंट हो गयी, जिसने उन लोगों को बम बनाने की कला सिखायी और तत्सम्बन्धी एक पुस्तक भी दी। यह पुस्तक लन्दन में लाकर पुनर्मुद्रित कराने के बाद इंग्लैण्ड तथा फ्रांस के सभी सदस्यों के बीच वितरित कर दी गयी। सभी ने प्रायोगिक तौर पर बम बनाने भी सीख लिये। इसके अतिरिक्त विनायक अपना क्रान्तिकारी साहित्य, बम-निर्माण की विधि तथा पिस्तौल आदि भारत भेजने की व्यवस्था में भी लगे हुए थे। परन्तु खुफिया विभाग को इसकी जानकारी मिल गयी और भारत में गिरफ्तारियों तथा हत्याओं का दौर आरम्भ हुआ। उनके अन्य दोनों भाई हिरासत में ले लिये गये और स्वयं उनके नाम भी वारण्ट जारी हो गया। पेरिस से लौटते समय लन्दन के रेल्वे स्टेशन पर ही उन्हें गिरफ्तार करके मुकदमा चलाने के हेतु भारत की ओर रवाना कर दिया गया। मार्ग में जहाज जब मार्सेल्स के बन्दरगाह से आगे बढ़ा, तो पहरेदारों की नजर बचाकर वे समुद्र में कूद पड़े और पीछे से हो रही गोलियों की बौछार को नजरन्दाज करते हुए तैरकर धरती के किनारे जा पहुँचे, परन्त दुर्भाग्यवश वे फिर से पकड़ में आ गये और बड़ी सावधानी के साथ भारत लाये गये। मुम्बई के उच्च न्यायालय में उन पर डेढ़ महीनों तक मुकदमा चला और २३ दिसम्बर १९१० ई. के दिन अंग्रेज न्यायाधीशों ने अपना फैसला सुना दिया। उन पर तीन संगीन आरोप प्रमाणित हुए थे, जिसके दण्डस्वरूप उन्हें दो आजीवन कारावस तथा एक नजरबन्दी की सजा मिली थी। कुल मिलाकर उन्हें पचास वर्ष कारावास में बिताने

थे और उनकी सारी सम्पत्ति भी जप्त कर ली गयी।

कुछ काल तक मुम्बई के ही डाँगरी तथा ठाणे के कारागार में रखने के बाद सरकार ने उन्हें अन्दमान भेज दिया। १९११ से १९२४ ई. तक अन्दमान में बिताने के बाद उन्हें मुक्त कर दिया गया। तब से १९३७ ई. तक वे रत्नागिरि में नजरबन्द रहे। १९३७ से १९४३ ई. तक उन्होंने 'हिन्दू महासभा' की अध्यक्षता की। अपने परवर्ती जीवन में उन्होंने हिन्दू समाज से अस्पृश्यता का कलंक मिटाने के लिए काफी प्रयास किया। उन्हें काफी लम्बी आयु मिली थी। २६ फरवरी, १९६६ ई. को ८३ वर्ष की आयु में उन्होंने अन्तिम सांस ली। व्याख्यान देने में पटु होने के साथ-ही-साथ विनायक एक सिद्धहस्त लेखक भी थे। अपने सुदीर्घ रचनाकाल के दौरान उन्होंने अनेक लेख, कविताएँ, नाटक, उपन्यास तथा कई भागों में अपनी आत्मकथा लिखी। उनकी समस्त मराठी तथा अंग्रेजी रचनाएँ आठ खण्डों में संकलित होकर 'समग्र सावरकर वाङ्मय' के रूप में १९६३ ई. में पूना से प्रकाशित हुईं।

सबसे छोटे भाई नारायण (१८८९-१९४९ ई.) भी एक उल्लेखनीय क्रान्तिकारी तथा लेखक थे। उन्होंने बड़ौदा तथा पूना में शिक्षा प्राप्त की। १९०९ ई. में अहमदाबाद में लॉर्ड मिण्टो पर बम फेंकने के मामले में उन्हें दो माह की सजा हुई। अगले वर्ष जैक्सन-हत्या के सिलसिले में भी उन्हें छह माह का सश्रम कारावास मिला था। इसके बाद वे चिकित्सा शास्त्र का अध्ययन करने कलकत्ता चले गये। वहाँ कॉलेज की फीस भरने के लिए अर्थोपार्जन हेतु उन्होंने कुछ उपन्यास लिखे। परवर्ती जीवन में उन्होंने सात वर्षों तक 'श्रद्धानन्द' नामक पत्रिका का सम्पादन और साथ ही अछूतोद्धार के लिए काफी परिश्रम किया। कुछ काल के लिए वे मुम्बई प्रदेश कांग्रेस कमेटी के उपाध्यक्ष भी रहे और अपने जीवन के अन्तिम दिनों तक हिन्दू महासभा के संगठन में लगे रहे।

स्वाधीनता संग्राम में इतना महत्वपूर्ण योगदान करनेवाले, बहुमुखी प्रतिभा के धनी ये तीनों ही भ्राता श्रीरामकृष्ण-विवेकानन्द साहित्य के गहन अध्येता थे। इस अध्ययन का उनके व्यक्तिगत आध्यात्मिक जीवन तथा राष्ट्रीय कार्यों पर भी गहरा प्रभाव हुआ था। इस सन्दर्भ में जो कुछ तथ्य उपलब्ध हो सके हैं, आगे हम उन्हीं पर चर्चा करेंगे।

⌑ ⌑ ⌑

कृष्णाजी नारायण आठल्ये महाराष्ट्र के सुविख्यात चित्रकार थे। बाद में उन्होने

कवि, पत्रकार तथा एक लेखक के रूप में काफी प्रसिद्धि अर्जित की। विविध विषयों पर उनकी लगभग ५० पुस्तकें प्रकाशित हुई थीं। महाराष्ट्र में श्रीरामकृष्ण-विवेकानन्द भावधारा के प्रसार में उन्होंने काफी महत्वपूर्ण तथा अग्रणी भूमिका निभाई। उनके द्वारा प्रवर्तित तथा सम्पादित 'केरल-कोकिल' नामक मराठी पत्रिका उन दिनों अत्यन्त लोकप्रिय हो रही थी। १८९७ ई. में वे स्वामी विवेकानन्द की कुछ सद्यःप्रकाशित पुस्तकें पढ़कर मंत्रमुग्ध रह गये और उन्होंने मराठी भाषा में उनका अनुवाद तथा प्रकाशन करने का संकल्प किया। १८९८ ई. के जनवरी अंक से ही उन्होंने स्वामीजी के 'राजयोग' ग्रंथ का धारावाहिक मराठी अनुवाद प्रकाशित करना आरम्भ किया। बाद में वे क्रमशः श्रीरामकृष्ण की जीवनी, 'सुलभ वेदान्त' शीर्षक से उनके उपदेश तथा 'विवेकानन्द-जीवनी' का प्रकाशन करने लगे। उसी वर्ष उन्होंने स्वामीजी का 'कर्मयोग' भी पुस्तकाकार निकाला। विनायक सावरकर की रचनाओं में कई स्थानों पर 'केरल-कोकिल' तथा उसके सम्पादक का उल्लेख आया है, अतः हमारा अनुमान है कि सावरकर बन्धुओं का श्रीरामकृष्ण तथा स्वामी जी सम्बन्धी साहित्य से प्रारम्भिक परिचय ने उन्हीं के माध्यम से हुआ होगा।

स्वामी विवेकानन्द के कार्य तथा विचारों का तत्कालीन युवावर्ग पर बड़ा ही अद्‌भुत प्रभाव हो रहा था। अपने ज्येष्ठ भ्राता पर पड़े इस प्रभाव का वर्णन करते हुए विनायक ने अपनी आत्मकथा में लिखा है, "उन दिनों अर्थात १८९८-९९ ई. के सन्धिकाल में मेरे भाई साहब के बीसवें वर्ष में आयी लहर अपनी पूरी पराकाष्ठा पर थी। अमेरिका में वेदान्त की दुन्दुभी बजाकर विवेकानन्द हाल ही में भारत लौटे थे। सारा हिन्दुस्तान उनके वेदान्तिक व्याख्यानों और राजयोग, कर्मयोग आदि पुस्तकों से सम्मोहित हो रहा था। ये पुस्तकें पहले मेरे भाई साहब ने और उन्हीं की प्रेरणा से मैंने भी पढ़ी। उसके बाद पता चला कि निर्विकल्प समाधि की प्रत्यक्ष अनुभूति से सम्पन्न राजयोगी (अर्थात स्वामीजी) मायावती (हिमालय) में आश्रम बना रहे हैं और उन्होंने घोषणा की है कि वहाँ आनेवाले (साधकों) को मैं दुर्लभ राजयोग की शिक्षा दूँगा। बचपन से ही भाई साहब के मन में योगजनित आनन्द प्राप्त करने की तीव्र उत्कण्ठा थी और यह समाचार पाते ही वे अधीर हो उठे। उन्होंने घर से भागकर मायावती जाने की योजना बनायी। **'तत्र ते बुद्धिसंयोगं लभन्ते पौर्वदेहिकम्'** – अचानक ऐसा ही कुछ हुआ और संसार के प्रति उनके मन में तीव्र वैराग्य का उदय हुआ। परिवार, समाज, राष्ट्र आदि से सम्बन्धित ऐहिक कार्य उन्हें तुच्छ प्रतीत होने लगे। यदि उस उद्दीप्त तरुण के वैरागी होकर निकल जाने के संकल्प को क्रियान्वित

करने के मार्ग में एक अलंघ्य बाधा न आ पड़ती और यदि वह उस भाव में उसी समय निकल पड़ता और मायावती जा पहुँचता, तो शायद उसकी जीवनधारा एक अलग ही दिशा पकड़ लेती और इसके फलस्वरूप राष्ट्रीय क्रान्तिकारी आन्दोलन उसके प्रचण्ड योगदान से वंचित रह जाता। ... परन्तु तभी सहसा हमारे परिवार पर भी प्लेग की भयानक विपत्ति आ पड़ी।''

प्लेग की महामारी के दौरान सावरकर-बन्धुओं के पिता का देहावसान हो गया, परिवार के कुछ अन्य सदस्य बीमार हो गये और इस कारण गणेश मायावती नहीं जा सके। इस महामारी के प्रकोप के शान्त होने पर पूरे परिवार के संरक्षण का भार उन्हीं के कन्धों पर आ पड़ा और अपने इस उत्तरदायित्व के पालन के साथ-ही-साथ वे अपने दोनों भाइयों के साथ विप्लव आन्दोलन से जुड़ गये। परन्तु साथ ही उनकी मण्डली में श्रीरामकृष्ण तथा स्वामी विवेकानन्द के साहित्य का अध्ययन-मनन चलता रहा, क्योंकि इन ग्रन्थों से उन लोगों के मन में सनातन हिन्दू धर्म तथा संस्कृति के प्रति अटूट आस्था का उदय होता था और साथ ही चरित्रनिर्माण के हेतु साधना तथा राष्ट्रीय स्वाधीनता के लिए प्रेरणा भी प्राप्त होती थी।

¤ ¤ ¤

जैसा कि हम पहले ही उल्लेख कर आये हैं, ज्येष्ठ भ्राता गणेश सावरकर ने मराठी भाषा में अनेक पुस्तकों की रचना की है। उनमें से पुनर्जन्म तथा अतीन्द्रिय जगत के विषय में वैज्ञानिक दृष्टिकोण से सविस्तार विश्लेषण करनेवाली एक पुस्तक है – 'धर्म हवा कशाला'। उपरोक्त ग्रन्थ से अपने विषय से सम्बन्धित कुछ अंशों के हिन्दी अनुवाद हम यहाँ उद्धृत करते हैं। स्वामी विवेकानन्द के वेदान्त प्रचार तथा प्रो. जे. सी. बोस द्वारा उसके वैज्ञानिक पुष्टीकरण का आधुनिक भौतिकवादी विचारों पर जो परिणाम हुआ है, उसका विवेचन करते हुए (पृ. २०) वे लिखते हैं –

''पाश्चात्य विज्ञानशास्त्र का कल पूर्वोक्त कारण से स्वभावतः ही जड़वाद की ओर झुका हुआ था। परन्तु श्री विवेकानन्द स्वामी के पश्चिम में वेदान्तोक्त अध्यात्मशास्त्र के प्रभावशाली प्रचार के फलस्वरूप और श्री जगदीश चन्द्र बोस द्वारा कथित भारतीय तत्त्वज्ञान के अनुसार चैतन्य सर्वत्र व्याप्त है – यह सत्य भौतिक शास्त्र की दृष्टि से प्रत्यक्ष प्रयोग की पद्धति से दिखाये जाने के फलस्वरूप पाश्चात्य विज्ञानशास्त्रियों को मानो एक तरह की नयी दृष्टि प्राप्त हो जाने से, उनकी शोधशक्ति का एकांगीपना काफी-कुछ दूर हो गया।''

फिर उसी पुस्तक में 'विश्वप्रसिद्ध अलौकिक शक्ति के उदाहरण' प्रसंग में (पृ. ४९) प्रारम्भ में ही वे श्रीरामकृष्ण का उदाहरण देते हुए लिखते हैं, "भगवान श्रीरामकृष्ण परमहंस को अपनी आयु के चौथे वर्ष से ही निर्विकल्प समाधि[1] की अनुभूति होने लगी थी, यह केवल सुनी-सुनाई बात नहीं है। बंगाल में यह बात सर्वविदित है। त्रिखण्ड प्रसिद्ध स्वामी विवेकानन्द इन्हीं महापुरुष के शिष्य थे। भगवान श्रीरामकृष्ण परमहंस को बाद में एक महायोगी मिले थे। उन्होंने उनकी वह सहजसाध्य अवस्था देखकर ऐसा कहते हुए आश्चर्य व्यक्त किया था, 'जिस अवस्था को प्राप्त करने के लिए मुझे ४० वर्ष के दीर्घकाल तक अखण्ड प्रयत्न करना पड़ा था, वह तुमको सहज रूप से प्राप्त है'...।"

⌑ ⌑ ⌑

मझले भाई विनायक को २३ दिसम्बर १९१० ई. के दिन दोहरे आजन्म कारावास (पचास वर्ष) की सजा सुनाई गयी। उन्हें पहले एक माह मुम्बई के डोंगरी जेल में और तदुपरान्त कुछ काल ठाणे के जेल में रखने के बाद अन्दमान भेज दिया गया। वहाँ पर अपने काराजीवन के प्रथम दिवस की मनोदशा का हाल उन्होंने अपनी 'सप्तर्षि' शीर्षक से एक सुदीर्घ कविता में वर्णन किया है। अत्यन्त भावपूर्ण उस मराठी कविता के प्रासंगिक अंश का भावानुवाद इस प्रकार है –

"कारागार में दिन भर का कठोर तथा श्रमसाध्य कार्य समाप्त हुआ और मेरा मन पुनः उसी विषय पर लौट आया, जिसका कि वह प्रातःकाल चिन्तन कर रहा था। उस समय मेरे ध्यान के विषय थे – महावैराग्यवान पृथ्वी के देवता श्रीमान भगवान रामकृष्ण के शिष्योत्तम स्वामी विवेकानन्द। हम जड़वादी और अश्रद्धालु लोगों की बुद्धि में सत्य-असत्य के विषय में प्रायः द्वन्द्व उत्पन्न हो जाता है, परन्तु जब स्वामीजी हमारे सुपरिचित जड़वाद की भाषा में ही कपिल और पतंजलि के सूक्ष्म तत्त्व समझाते हैं, तो हमें उस पर श्रद्धा होने लगती है। उनके बुद्धिसम्मत युक्तिवाद के द्वारा मुझे विश्वास हो गया था कि 'योग कोई गोपनीय तत्त्व नहीं, अपितु एक शास्त्र है'।

"अतः संध्या के अपने कठोर परिश्रम से छुट्टी पाकर चित्त-एकाग्रता में प्रगति करने हेतु नियमानुसार हाथ-पाँव धोने के बाद बैठकर मैंने योगिराज का 'राजयोग' ग्रन्थ खोला। अहा ! शान्ति-रस का यह प्याला क्षण भर के लिए भी दूर करने की इच्छा नहीं होती। उसमें प्रकाशित उनकी समाधि अवस्था के चित्र को मैंने देवमूर्ति

१. वस्तुतः यह भावसमाधि थी और पहली बार उनके जीवन के छठें वर्ष में अनुभूत हुई थी।

मानकर प्रणाम किया और तदुपरान्त नासिकाग्र में दृष्टि को स्थिर करके में मन को एकाग्र करने का अभ्यास करने लगा। परन्तु मन तो बड़ा चंचल है ! जब साधुजनों को ही यह इतना दुर्निग्रह प्रतीत होता है, तो फिर हमारे समान अनभ्यस्त जड़-जीवों की तो बात ही क्या है ? मेरा मन किसी भी प्रकार वश में नहीं आ रहा था। उसे तो केवल प्रिय तथा अप्रिय ही समझता है, भले-बुरे का बोध नहीं होता। बुद्धि को छलावा देकर वह इन्द्रियों के साथ इधर-उधर दौड़ता रहता है। यद्यपि मानव-मन का ऐसा ही उच्छृंखल स्वभाव है, तथापि सुकठिन भूसेवा का व्रत लेकर वह थोड़े नियंत्रण में आ जाता है। इस प्रकार निष्काम कर्म के द्वारा मेरे पास जो निधि एकत्र हुई थी, उसके बल से मन की स्वच्छन्द गति पर थोड़ा अंकुश लगता था और वह वशीभूत हो जाता था। इस कारण यत्र-तत्र दौड़कर भी, पकड़ में आते ही वह लज्जापूर्वक उस वृत्ति को त्याग देता था।

"इस प्रकार क्रमशः कई वृत्तियों का उपशम होने के बाद चित्त ध्यानमग्न हुआ और आत्मरति की सुखद अनुभूति का थोड़ा थोड़ा आस्वादन मिलने लगा। हृदय में शान्तिरस का मोहक झरना प्रवाहित होने लगा और कैवल्यानन्द के तुषारबिन्दु छिटकने लगे। हे प्रभो ! यदि तुम्हारे अदृश्य चरणों की कणमात्र भी कृपा मिल जाय, तो हम जैसे त्रितापदग्ध शरणागतों का हृदय कितना शीतल हो जायगा। कैवल्यामृत की बाढ़ मे स्नात और तुम्हारे अधरामृत का पान किये हुए वे (शब्द) ऐसे ही तो होंगे। उन स्तुत्य सद्गुरु की उपलब्धि के लिए इस बन्दी का चित्त लुब्ध हुआ है और वह निरन्तर उन्हीं अज्ञात देव का चिन्तन कर रहा है। नरेन्द्र (विवेकानन्द) की दिव्य हेतु से प्रेरित जड़वादी युक्ति पर आधारित अश्रद्धापूर्ण बातें श्रीरामकृष्ण ने सुनी। उन्होंने यह भी कहा कि 'ईश्वर नहीं हैं ! यदि हों तो उन्हें बुलाइये ! यदि उनका सचमुच ही अस्तित्व हो, तो मुझे उनका प्रत्यक्ष दर्शन कराइये !" वे (श्रीरामकृष्ण नरेन्द्र का) स्पर्श करते हुए बोले, "वत्स ! तू निश्चय ही शीघ्र ईश्वर को देखेगा।" और इसके साथ ही केवल नाम के लिए ही नहीं, अपितु (सर्वतोभावेन) उनका विवेकानन्द में रूपान्तरण हुआ। अहा ! उसी प्रकार स्पर्श करके प्रभु से मिला देनेवाले कोई गुरु क्या मुझे भी मिलेंगे ? यदि मिल जायँ, तो मैं अपना यह जीवन उन्हीं पर न्यौछावर कर दूँ।"

यह भावभीना चित्रण है विनायक के आजन्म कारावास के प्रथम दिन की मनोदशा का ! १९११ ई. में रचित उसी कविता में वे आगे बताते हैं कि पिछले छह महीनों से इस 'राजयोग' का अभ्यास कर रहे हैं। अपनी जेल की रामकहानी में

उन्होने लिखा है -- प्रतिदिन 'व्यायाम करते समय मैं मुख से योगसूत्रों का पाठ करता था और उनमें से एक एक सूत्र को चुनकर उस पर चिन्तन करता था।' परन्तु अपने 'राजयोग' ग्रन्थ की प्रति वे अन्दमान नहीं ले जा सके थे। श्री रा. बा. सोमण, जो उन दिनों ठाणे जेल में एक क्लर्क के रूप में नौकरी करते थे, अपने संस्मरणों में लिखते हैं कि सावरकर के अन्दमान जाने के पूर्व उनकी जो चीजें जप्त करके नीलाम कर दी गयी थीं, उनमें ''कुछ पुस्तकें भी थीं, जिनमें 'राजयोग' नामक पुस्कत मैंने देखी थी, ऐसा स्मरण आता है।''

अपने १४ वर्ष के सुदीर्घ कारावास के दौरान विनायक ने विभिन्न भाषाओं में कई बार रामकृष्ण-विवेकानन्द साहित्य का पारायण किया था। उनकी सुप्रसिद्ध मराठी पुस्तक 'माझी जन्मठेप' (मेरा आजन्म कारावास) में इस तथ्य की सूचक उक्तियाँ यत्र-तत्र बिखरी पड़ी हैं। अन्दमान पहुँचते ही उन्हें पुस्तकों का अभाव खलने लगा, क्योंकि (वे लिखते हैं) 'मेरी अपनी पुस्तकें जो थीं, उन्हें ठाणे में ही जप्त कर लिया गया था। अन्दमान के राजबन्दियों के पास जो पुस्तकें थीं, वे सब छोटी थीं। उनमें श्रीरामकृष्ण तथा स्वामी विवेकानन्द जी की कुछ पुस्तकें थीं।' १९१२ ई. के दिसम्बर में उनके छोटे भाई नारायण ने उन्हें कुछ चुनिन्दा पुस्तकों का संग्रह भेजा था। उनमें स्वामीजी की भी पुस्तकें पाकर विनायक ने प्रसन्नता व्यक्त करते हुए उन्हें प्राप्तिसंवाद भेजा था। जेल में अच्छे साहित्य का अभाव बना ही रहता था, अतः कारावासी वहाँ एक पुस्तकालय की स्थापना करना चाहते थे। कई वर्ष तक प्रयास करने के बाद जेल के अधिकारियों से अनुमति मिली और दो हजार पुस्तकें संग्रह करके एक सुन्दर ग्रन्थालय बना लिया गया। विनायक लिखते हैं कि उनमें ''विवेकानन्द और रामकृष्ण के चरित्र विभिन्न भाषाओं में उपलब्ध थे। हमने यहाँ बँगला साहित्य का यथेच्छ अध्ययन किया। ... श्रीरामकृष्ण की लीलामृत आदि अनेक खण्डव्यापी पूर्णांग चरित्र मैंने (बँगला में ही) पढ़ा।'' वहाँ 'चित्रमय जगत' नामक एक मराठी मासिक पत्रिका भी आया करती थी, जिसमें उन दिनों नियमित रूप से श्रीरामकृष्ण-विवेकानन्द विषयक सामग्री प्रकाशित हुआ करती थी। उक्त ग्रन्थालय में अंग्रेजी पुस्तकों की संख्या सर्वाधिक थी। विनायक ने लिखा है कि उनमें भी ''विवेकानन्द और रामतीर्थ के सर्व ग्रन्थों की तीन तीन प्रतियाँ थीं।'' उन्होंने इस पुस्तकालय की प्रत्येक पुस्तक को पढ़ डाला और वेद, उपनिषद, रामायण, महाभारत, कुरान, बाइबिल आदि का विशेष रूप से अध्ययन किया। टॉमस-ए-केम्पिस की 'इमीटेशन' (ईसानुसरण) उनकी सर्वाधिक प्रिय

पुस्तक थी। उपनिषदों को स्वामीजी ने हिन्दू धर्म तथा दर्शन का मूल आधार माना है और विनायक ने भी इन्हें काफी मनोयोग के साथ पढ़ा। वे लिखते हैं, "दशोपनिषदों को एक एक कर लेकर रात रात भर चिन्तन करते हुए एक वर्ष में उनका सर्वांगपूर्ण अध्ययन किया।"

¤ ¤ ¤

स्वामी विवेकानन्द की इच्छा थी कि पूर्वकाल में जो लोग हिन्दू धर्म छोड़कर पर-मतावलम्बी हो गये हैं, उन्हें पुनः वापस लाने का प्रयास होना चाहिए तथा हिन्दुओं का धर्मान्तरण भी रोका जाय। सावरकर ने इस दिशा में भी काफी कार्य किया। जेल के एक उत्तर भारतीय ब्राह्मण लड़के को एक मुसलमान कर्मचारी ने भय तथा प्रलोभन दिखाकर धर्मान्तरित कर लिया था। विनायक ने इसका विरोध किया और उसे पुनः हिन्दू समाज में सम्मिलित कर लेने को अड़ गये। झगड़ा जेल के उच्च अधिकारियों तक जा पहुँचा। वहाँ वाद-विवाद के दौरान सावरकर ने स्वामीजी का ही दृष्टान्त दिया। वे बोले, "ऐतिहासिक शुद्धीकरण के उदाहरण यदि छोड़ दें, तो भी आर्यसमाजी शुद्धि करके हिन्दू बना ही लेते हैं। माना कि वह भी आपको मालूम न हो, परन्तु स्वामी विवेकानन्द जब अमेरिका से लौटे थे, तब आते समय उन्होंने मिस नोबल को हिन्दू दीक्षा देकर भगिनी निवेदिता बना दिया था, यह तो आपने सुना ही होगा। उनके ग्रन्थ यहाँ हमारे पुस्तकालय में हैं, आप चाहें तो इसका सत्यापन कर सकते हैं।" इसके अतिरिक्त जेल में एक तेलुगू कर्मचारी भी था, जिसे अपने धर्मान्तरित पिता से विरासत में ही ईसाई धर्म मिला था। विनायक के मुख से हिन्दू धर्म का इतिहास तथा माहात्म्य सुनकर वह पुनः अपने पूर्वजों का धर्म अङ्गीकार करने को उत्सुक हुआ। उसका शुद्धीकरण-समारोह हुआ और वह मन्दिर में जाकर पूजा करने लगा। सावरकर लिखते हैं कि उसने 'तिलक लगाना तथा विवेकानन्द के ग्रन्थ पढ़ना भी आरम्भ कर दिया।'

स्वामीजी ने निवेदिता को इंग्लैण्ड से लाकर जो हिन्दू-साधना तथा भारत-सेवा में लगाया था, इस तथ्य ने विनायक को मुग्ध कर लिया था। उन्होंने अपने 'हिन्दुत्व' नामक सुप्रसिद्ध ग्रन्थ में लिखा है कि जो व्यक्ति भारतवर्ष को अपने पितृभूमि माने, जिसकी नसों में इसी देश के महापुरुषों का रक्त प्रवाहित हो रहा हो और जो इसी धरती को अपनी पुण्यभूमि माने, वही हिन्दू कहलाने का अधिकारी होगा। इस विषय पर सविस्तार चर्चा करने के उपरान्त वे लिखते हैं, "परन्तु एक स्थान पर अवश्य ही हमारे लिए थोड़ी समस्या खड़ी हो जाती है। वह यह कि क्या

हम भगिनी निवेदिता को हिन्दू कह सकते हैं ? अपवाद ही नियम को प्रामाणिकता प्रदान करता है। हमारी इन देशभक्त तथा गौरवमयी भगिनी ने हमारे आसिन्धु सिन्धुपर्यन्त देश को अपनी पितृभूमि के रूप में स्वीकार कर लिया था। उन्हें इसके प्रति सच्चा प्रेम था और आज यदि हमारा राष्ट्र स्वाधीन होता, तो ऐसी स्नेहपूर्ण आत्माओं को नागरिकता के अधिकार प्रदान करने में हम अग्रणी होते। अतः पहला लक्षण उन पर खरा उतरता है। हिन्दू पूर्वजों का रक्त होने की शर्त उनसे पूरी होने का प्रश्न ही नहीं उठता। तथापि हिन्दुत्व का तीसरा महत्वपूर्ण लक्षण उन्हें हिन्दू के रूप में प्रतिष्ठित करता है, क्योंकि उन्होंने हमारी संस्कृति को अपना लिया था, हमारे देश को वे अपनी पुण्यभूमि मानती थी। ... हम हिन्दू जाति के लोग इतने कोमल-हृदय तथा भावुक हैं कि भगिनी निवेदिता या उन्हीं के समान अन्य कोई व्यक्ति हम लोगों के साथ इतने आत्मीयतापूर्वक घुल-मिल जाता है कि वह अनजाने ही हिन्दुत्व में स्वीकृत हो जाता है। परन्तु इसे नियम का अपवाद ही समझना चाहिए।'' उपरोक्त वाक्यों में विवेकानन्द-कन्या भगिनी निवेदिता के प्रति उनकी आन्तरिक श्रद्धा ही अभिव्यक्त हुई है।

अन्दमान से लौटने के बाद, अपने जीवन के परवर्ती काल में विनायक ने हिन्दू समाज से अस्पृश्यता, असमता आदि दोष दूर करने तथा इसके संगठन के लिए भागीरथ प्रयास किया था। इसी सिलसिले में उन्होंने राष्ट्रध्वज का एक नमूना भी बनाया था। इसमें त्याग के प्रतीक गैरिक वस्त्र की पृष्ठभूमि पर ब्रह्मतेज के प्रतीक ॐकारयुक्त कुण्डलिनी और क्षात्रवीर्य के द्योतक खड्ग का भी चित्रण हुआ था। इसमें कोई सन्देह नहीं कि इसके लिए कुण्डलिनी का रेखांकन तथा व्याख्या स्वामीजी के 'राजयोग' ग्रन्थ पर ही आधारित है। वे लिखते हैं, ''यह (कुण्डलिनी) किसी विशेष जाति या वर्ण की सम्पदा नहीं है। सभी लोगों में इसका निवास है। मेरुदण्ड के दोनों ओर दो नाड़ियाँ है, जिन्हें हिन्दू योग के शास्त्रकारों ने इड़ा और पिंगला कहा है। वे एक दूसरे के साथ माले के समान जुड़ी हुई हैं। इन दोनों के बीच एक तीसरी नाड़ी भी है, जिसे सुषुम्ना करते हैं। उनमें कुछ नाड़ीकेन्द्र स्थित हैं, जिन्हें यौगिक भाषा में पद्मों की आख्या दी गयी है; मुख्यतः ये पद्म छह हैं, जिन्हें मूलाधार, स्वाधिष्ठान, मणिपुर, अनाहत, विशुद्ध और सहस्रार कहते हैं। मूलाधार में एक अद्‌भुत शक्ति का निवास है, जो कुण्डली की मुद्रा में स्थित है। योग और ध्यान की साधना से यह जागती है और प्रत्येक पद्म से होकर गुजरते हुए, अद्‌भुत अलौकिक अनुभूतियों की उपलब्धि कराते हुए, यह सहस्रार पद्म में पहुँचती है। तब

योग के साधक को एक अद्‌भुत इन्द्रियातीत परम आनन्द का बोध होता है। इस अवस्था को योगीगण कैवल्यानन्द, वज्रयानी महासुख, अद्वैतवादी ब्रह्मानन्द और भक्तगण प्रेमानन्द कहा करते हैं। हिन्दू हो या अहिन्दू, आस्तिक हो या नास्तिक, नागरिक हो या वनवासी – इस परम आनन्द की अनुभूति करना ही मानव-जीवन का चरम लक्ष्य है। योगशास्त्र व्यक्तिगत अनुभूति का विज्ञान है, अतः इसमें मतभेदों के लिए कोई स्थान नहीं।'' कहना न होगा कि यह सारा विवरण स्वामीजी के ही 'राजयोग' की प्रतिध्वनि है।

सबसे छोटे भाई डॉ. नारायण सावरकर के साहित्य के विषय में अधिक विवरण उपलब्ध नहीं हो सका है, तथापि उनके द्वारा किया हुआ स्वामीजी के 'संन्यासी का गीत' कविता का एक सुन्दर मराठी काव्यानुवाद उपलब्ध है।

स्वामी विवेकानन्द ने अपने जीवनकाल के तथा परवर्ती अधिकांश देशप्रेमी तथा स्वातंत्र्य-योद्धाओं को स्वाधीनता तथा राष्ट्रनिर्माण की प्रेरणा दी है। हम देखते हैं कि सुप्रसिद्ध सावरकर-बन्धुओं पर भी श्रीरामकृष्ण तथा स्वामीजी का काफी गहरा प्रभाव हुआ था। यह प्रेरणा उनके जीवन में मुख्यतः योगसाधना के प्रति तीव्र आग्रह तथा मातृभूमि के प्रति उद्दाम भक्ति के रूप में अभिव्यक्त हुई थी। तथापि प्रश्न उठता है कि युगपुरुष स्वामीजी के उदात्त, उदार तथा चिरन्तन विचार क्या ये लोग पूर्णरूपेण ग्रहण कर सके थे ? स्वामीजी तथा सावरकर-बन्धुओं के विचारों का तुलनात्मक अध्ययन करने पर उनमें काफी पार्थक्य दिखाई देता है और ऐसा स्वाभाविक भी है; क्योंकि स्वामीजी का प्रेम विश्व-ब्रह्माण्ड-व्यापी तथा निस्सीम था और उसका विस्तार स्वधर्म या स्वदेश की सीमा से मर्यादित नहीं था। इन दोनों विचारधाराओं का तुलनात्मक अध्ययन अत्यन्त रोचक होगा, परन्तु वह अपने आपमें एक अलग विषय है। ❑